॥ ओ३म् ॥

पाणिनीय-शिक्षा

(शिक्षाभावप्रकाशोपेता)

संस्कृत-हिन्दी-भाष्यकारः

स्वामी चिदानन्द सरस्वती

(आचार्य उदयन मीमांसक)

पाणिनि महाविद्यालय

सा विद्या या विमुक्तये

रामलाल कपूर ट्रस्ट

॥ ओ३म् ॥

पाणिनीय-शिक्षा

(शिक्षाभावप्रकाशोपेता)

संस्कृत-हिन्दी-भाष्यकार:

स्वामी चिदानन्द सरस्वती

(आचार्य उदयन मीमांसक)

संस्थापक एवम् अध्यक्ष : निगम-नीडम्

महर्षि दयानन्द मार्ग, पिडिचेड, गज्वेल, सिद्धिपेट

(तेलंगाणा) पिन : ५०२२७८

सेल नं० ०९४४०७२१९५८, ०६२८१२५०३७९

सा विद्या या विमुक्तये

रामलाल कपूर ट्रस्ट

संस्करण	:	द्वितीय, ५०० प्रतियाँ
		विक्रमी संवत् २०८२, अक्टूबर, सन् २०२५

© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

मूल्य	:	50.00 रुपये
मुद्रक	:	**भारत मुद्रक,** नारायणा, दिल्ली।

प्रकाशकीय

वर्तमान में पाणिनि मुनि प्रणीत दो शिक्षा ग्रन्थ उपलब्ध हैं- प्रथम सूत्रात्मक, दूसरे श्लोकात्मक। सूत्रात्मक शिक्षा प्राचीन है, जिसके लघु एवं बृहत् दो पाठ मिलते हैं।

यह बताते हुए बड़ा हर्ष हो रहा है कि हमारे अन्तेवासिचर पण्डित उदयनाचार्य द्वारा सूत्रात्मक शिक्षा के बृहत् पाठ पर लिखित **'शिक्षाभावप्रकाशः'** नामक व्याख्या वेद-वेदाङ्ग अध्येताओं के लिए प्रस्तुत की जा रही है। यद्यपि विद्वान् लेखक ने इसी पाठ पर **'शिक्षातत्त्वालोकभाष्यम्'** नामक विवेचनात्मक एवं विस्तृत व्याख्या लिखी थी। जिसके विस्तृत होने से प्रारम्भिक छात्रों को किञ्चित् कठिनाई का अनुभव हो रहा था। अतः उसी को देखते हुए प्रस्तुत व्याख्या की गई है। इसमें दो परिशिष्टों सहित सूत्रों की व्याख्या मात्र है, जो आर्ष-पाठ-विधि से अध्ययन-अध्यापन करने वाले छात्रों एवम् अध्यापकों की सहायक होगी।

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा लेखक की प्रथमकृति **'शिक्षाशास्त्रम्'** पहले प्रकाशित की जा चुकी है। उसी की उपयोगिता को देखते हुए सम्प्रति ट्रस्ट लेखक की नवीन दो कृतियों (पाणिनीय शिक्षा शिक्षाभावप्रकाशोपेता एवं हितोपदेशः प्रबोधचन्द्रिकाव्याख्योपेतः) का प्रकाशन कर रहा है।

पूर्ण विश्वास के साथ मैं आशा करता हूँ कि भविष्य में भी लेखक की लेखनी से वैदिक वाङ्मय पर अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों का स्रोत बहता रहेगा। यही प्रभु से सविनय प्रार्थना है।

विजयपाल विद्यावारिधि

दि० ५.८.२०१२ प्रधान—

रामलाल कपूर ट्रस्ट, रेवली (सोनीपत)

पुरोवाक्

मनुष्य का ज्ञान स्वाभाविक न होकर नैमित्तिक है। माता, पिता, गुरु और वेदादि शास्त्र ही मानवीय ज्ञान के निमित्त बनते हैं। इन निमित्तों से प्राप्त ज्ञान वाक्यों में निबद्ध होता है। यतोहि वाक्यों से ही मनुष्य को पूर्ण एवं निर्भ्रान्त ज्ञान प्राप्त होता है। वे वाक्य पदों से आबद्ध होते हैं तो पद वर्णों से बद्ध हैं। ज्ञान प्राप्त करने एवम् अपने ज्ञान को दूसरों को प्रदान करने और स्वाभिप्रायों की अभिव्यक्ति के लिए भाषा की महती आवश्यकता होती है। उस भाषा का बोध वर्णों पर आधृत है अर्थात् वर्णज्ञान के विना भाषा का मूल उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सकता। अतः वर्णों को जानना अनिवार्य हो जाता है। इस अनिवार्यता की सम्पूर्त्ति के लिए वर्णविज्ञान का अन्वेषण प्रारम्भ हो जाता है कि भाषाज्ञान के लिए कितने वर्णों एवं किस प्रकार के वर्णों की आवश्यकता होगी? उन वर्णों को सरलतया हृदयङ्गम करने, कराने के लिए उनका क्रम क्या हो? अर्थात् विशिष्ट क्रम के नियमों को निर्धारित करना। उन वर्णों के शुद्ध-शुद्ध उच्चारण की विधि क्या हो? अर्थात् शुद्धत्व के बोधार्थ वर्णों के गुण-धर्मों को निर्धारित करना। वर्णों की उत्पत्ति का प्रकार क्या हो? इस प्रकार की समस्त अपेक्षाओं को पूर्ण करने वाला शास्त्र ही **''शिक्षा''** है।

वाणी की उत्पत्ति प्राण से होती है। उत्पन्न होते ही वह वाणी (ध्वनि) नष्ट हो जाती है। तत्पश्चात् पुनः प्राणमात्र अवशिष्ट रह जाता है, अर्थात् वाणी प्राण का ही एक रूपान्तर है। जिस कारण प्राण वाक्तत्त्व को प्राप्त कर लेता है वा उसमें वाणीत्व आ जाता है, वह कारण ही वाक् या वर्ण का गुण-धर्म कहलाता है। वर्णों के वे गुण-धर्म हैं—ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, सानुनासिकत्व, निरनुनासिकत्व, संवृत, विवृत, संवार, विवार, नाद, घोष, काल आदि। ये गुण-धर्म भिन्न-भिन्न स्थान, करण, प्रयत्न, वाय्वाघात आदि के कारण वर्णान्तरता को प्राप्त करते हैं—**''तस्य रूपान्यत्वे वर्णान्यत्वम्''** (तै० प्राति० २२.२)। उन वर्णों से पद, पदों से वाक्य, वाक्यों से भाषा का प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार भाषा वाक्यों पर, वाक्य पदों पर, पद वर्णों पर, वर्ण प्राण के गुण-धर्मों पर आश्रित हैं। इससे स्पष्ट होता है कि भाषा को जानने के लिए और भाषा के उद्देश्यों व प्रयोजनों को सिद्ध करने के लिए वर्ण वा उनके गुण-धर्मों को जानना अनिवार्य है।[१] उसी ज्ञान का बोध कराने वाला शास्त्र ही

१. गुरुत्वं लघुता साम्यं ह्रस्वदीर्घप्लुतानि च। लोपागमविकारश्च प्रकृतिर्विक्रमः क्रमः॥ स्वरितोदात्तनीचत्वं श्वासो नादोऽङ्गमेव च। एतत्सर्वं तु विज्ञेयं छन्दोभाषामधीयता॥ (तै०प्राति० २४.५)।

'**शिक्षा**' है।

शिक्षा एक योगरूढ़ शब्द है। यह शब्द ''शिक्ष विद्योपादाने'' (भ्वा० ४००) धातु से ''गुरोश्च हलः'' (३.३.१०३) सूत्र से भाव में 'अ'-प्रत्यय होकर बनता है—'**शिक्षणमिति शिक्षा**'। ''अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्'' (३.३.१९) सूत्र के अधिकार में करण में पूर्वोक्त सूत्र से 'अ'-प्रत्यय होकर भी शिक्षा शब्द सिद्ध होता है—'**शिक्ष्यन्ते वर्णा यया शिक्ष्यते वा वर्णानामुच्चारणविधिः यया सा शिक्षा**' अर्थात् जिसके द्वारा वर्ण सीखे जाते हैं या वर्णों की उच्चारणविधि सीखी जाती है, उसे शिक्षा कहते हैं। अथवा ''शक्लृ शक्तौ'' (स्वादि० १६), ''शक मर्षणे'' (दिवादि० ७६) धातुओं से सन् प्रत्यय, पुनः तदन्त से ''अ प्रत्ययात्'' (३.३.१०२) सूत्र से अप्रत्यय होकर भी शिक्षा शब्द निष्पन्न होता है—'**शक्तुम् इच्छा शिक्षा।**' ये सभी अर्थ यौगिक हैं, पुनरपि यह शिक्षा शब्द प्रथम वेदाङ्ग के लिए, ग्रन्थ विशेष के लिए रूढ़ भी हुआ है।

इस ग्रन्थ के पढ़ने से शुद्ध उच्चारण की विधि ज्ञात हो जायेगी। जिससे अशुद्ध उच्चारण का निवारण होगा। अन्यथा यथोचित प्रयत्नों के अभाव में व्यक्ति अनेक प्रकार के अशुद्ध उच्चारण कर बैठता है। यथा—अल्पप्राण को महाप्राण बोलना, महाप्राण को अल्पप्राण, जैसे—कुतः को कुथः। ह्रस्व को दीर्घ, दीर्घ को ह्रस्व बोलना, यथा—पालयतु <—>पलायतु। वैसे ही शब्द (=पद, आवाज) को सब्द (=दिन), शबद, सबद आदि, विष (=जहर) को विश (=प्रजा), भाषा को भासा (=दीप्ति) आदि बोलना। अक्षर को अच्छर, स्थान को अस्थान, स्थिति को इस्थिति, श्मशान को शमशान आदि विविध अशुद्ध उच्चारण अज्ञानवश लोग करते हैं। उन सब का परिहार इस ग्रन्थ को पढ़कर अभ्यास करने से हो जाता है।

यद्यपि पाणिनि के शिक्षासूत्रों पर लेखक के द्वारा विवेचनात्मक एवं विस्तृत व्याख्या (शिक्षातत्त्वालोकभाष्यम्) लिखी गई थी। पर उस भाष्य से कोमल मस्तिष्क वाले छात्रों को कठिनाई का अनुभव होने से छात्रों के लिए एक उपयोगी संस्करण मुद्रित करने का विचार उदित हुआ। तत्परिणामतः 'शिक्षाभावप्रकाशः' नामक यह व्याख्या पाठकों के हाथों में प्रस्तुत की जा रही है। इसमें सूत्रों की सरल व्याख्या मात्र है। पुनरपि कहीं-कहीं सूत्रार्थों में अस्पष्टता या सन्दिग्धता हो सकती है। उसके लिए 'शिक्षाशास्त्रम्' के मद्विरचित 'शिक्षातत्त्वालोकभाष्य' को अवश्य देखें, अस्तु।

अशुद्धपठनाच्चैव नैव मोक्षं प्रपेदिरे।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन शुद्धपाठी भवेद् द्विजः॥ (पाराशरी शिक्षा ११३)

इस कामना के साथ.....

उदयनाचार्यः

२६ जनवरी, २०१२

पाणिनीय-शिक्षा

[वृद्धपाठः]

शिक्षा-भूमिका

१. आकाशवायुप्रभवः शरीरात् समुच्चरन् वक्त्रमुपैति नादः।
स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानो वर्णत्वमागच्छति यः स शब्दः॥

२. तमक्षरं ब्रह्म परं पवित्रं गुहाशयं सम्यगुशन्ति विप्राः।
स श्रेयसा चाभ्युदयेन चैव सम्यक् प्रयुक्तः पुरुषं युनक्ति॥

३. स्थानमिदं करणमिदं प्रयत्न एष द्विधाऽनिलः
स्थानं पीडयति वृत्तिकारः प्र[१] क्रम एषोऽथ नाभितलात्॥

४. स्थानकरणप्रयत्नपरेभ्यो वर्णास्त्रिषष्टिः।

५. चतुःषष्टिरित्येके।

६. तत्र वर्णानां केषां किं स्थानं किं करणं प्रयत्नश्च [कः], ते द्विधा विभजते।

१. अथ प्रथमं स्थानप्रकरणम्

१. तत्र स्थानं तावत्।

२. अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः।

३. हविसर्जनीयावुरस्यावेकेषाम्।

४. जिह्वामूलीयो जिह्वयः।

५. कवर्गावर्णानुस्वारजिह्वामूलीया जिह्वया एकेषाम्।

६. सर्वमुखस्थानमवर्णमित्येके।

७. कण्ठ्यानास्यमात्रानित्येके।

८. इचुयशास्तालव्याः।

९. ऋटुरषा मूर्धन्याः।

---

१. सप्तमप्रकरणस्य प्रथमसूत्रे 'क्रमः' शब्द एव न तु प्रकमः। तस्य (प्रशब्दस्य) 'पीडयति' क्रियया सम्बन्धः। छन्दोवत्सूत्राणि भवन्तीति नियमात् क्रियायाः परो व्यवहितश्चेह प्रयुक्त इति युधिष्ठिरमीमांसकाः।

१०. रेफो दन्तमूलीय एकेषाम्।
११. दन्तमूलस्तु तवर्गः।
१२. लृतुलसा दन्त्याः।
१३. वकारो दन्तोष्ठ्यः।
१४. सृक्किणी स्थानमेकेषाम्।
१५. उपूपध्मानीया ओष्ठ्याः।
१६. अनुस्वारयमा नासिक्याः।
१७. कण्ठनासिक्यमनुस्वारमेके।
१८. यमाश्च नासिक्यजिह्वामूलीया एकेषाम्।
१९. ए ऐ कण्ठतालव्यौ।
२०. ओ औ कण्ठोष्ठ्यौ।
२१. ङञणनमाः स्वस्थाननासिकास्थानाः।
२२. द्विवर्णानि सन्ध्यक्षराणि।
२३. सरेफ ऋवर्णः।
२४. [इति] संयुक्ता वर्णाः।
२५. एवमेतानि स्थानानि।

२. अथ द्वितीयं करणप्रकरणम्।

१. करणमपि।
२. जिह्वयतालव्यमूर्धन्यदन्त्यानां जिह्वा करणम्।
३. जिह्वामूलेन जिह्वयानाम्।
४. जिह्वामध्येन तालव्यानाम्।
५. जिह्वोपाग्रेण मूर्धन्यानाम्।
६. जिह्वाग्राधः करणं वा।
७. जिह्वाग्रेण दन्त्यानाम्।
८. शेषाः स्वस्थानकरणाः। ९. इत्येतत् करणम्।

३. अथ तृतीयम् अन्तःप्रयत्नप्रकरणम्

१. प्रयत्नो द्विविधः।
२. आभ्यन्तरो बाह्यश्च।

३. स्वस्थान आभ्यन्तरस्तावत्।
४. स्पृष्टकरणाः स्पर्शाः।
५. ईषत्स्पृष्टकरणा अन्तस्थाः।
६. ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणः।
७. विवृतकरणा वा।
८. विवृतकरणाः स्वराः।
९. तेभ्य ए ओ विवृततरौ।
१०. ताभ्यामै औ।
११. ताभ्यामप्याकारः।
१२. संवृतस्त्वकारः।
१३. इत्येषोऽन्तःप्रयत्नः।

४. अथ चतुर्थं बाह्यप्रयत्नप्रकरणम्

१. अथ बाह्याः प्रयत्नाः।
२. वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः शषसविसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीया यमौ च प्रथमद्वितीयौ विवृतकण्ठाः श्वासानुप्रदाना अघोषाः।
३. वर्ग्ययमानां प्रथमा अल्पप्राणा इतरे सर्वे महाप्राणाः।
४. वर्गाणां तृतीयचतुर्था अन्तस्था हकारानुस्वारौ यमौ च तृतीयचतुर्थौ नासिक्यश्च[१] संवृतकण्ठा नादानुप्रदाना घोषवन्तश्च।
५. वर्ग्ययमानां तृतीया अन्तस्थाश्चाल्पप्राणा इतरे सर्वे महाप्राणाः।
६. यथा तृतीयास्तथा पञ्चमाः।
७. आनुनासिक्यमेषामधिको गुणः।
८. कादयो मावसानाः स्पर्शाः।
९. यादयोऽन्तस्थाः।
१०. शादय ऊष्माणः।
११. सस्थानेन द्वितीयाः।
१२. हकारेण चतुर्थाः।
१३. इत्येष बाह्यः प्रयत्नः।

१. 'नासिक्याश्च' इति सार्वत्रिकः पाठः।

५. अथ पञ्चमं स्थानप्रपीडनप्रकरणम्

१. तत्र स्पर्शयमवर्णकारो वायुरय:पिण्डवत् स्थानमभिपीडयति।
२. अन्तस्थवर्णकारो वायुर्दारुपिण्डवत्।
३. ऊष्मस्वरवर्णकारो वायुरूर्णापिण्डवत्।

६. अथ षष्ठं वृत्तिकारप्रकरणम्

१. एवं व्याख्याने वृत्तिकारा: पठन्ति-अष्टादशप्रभेदमवर्णकुलमिति। तत् कथमुक्तम्।
२. ह्रस्वदीर्घप्लुतत्वाच्च त्रैस्वर्योपनयेन च।
आनुनासिक्यभेदाच्च संख्यातोऽष्टादशात्मक: ॥ इति ॥
३. एवमिवर्णादय:।
४. लृवर्णस्य दीर्घा न सन्ति।
५. तं द्वादशप्रभेदमाचक्षते।
६. यदृच्छाशब्देऽशक्तिजानुकरणे वा यदा दीर्घा: स्युस्तदाष्टादशप्रभेदं ब्रुवते क्लृपक इति।
७. सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्ति।
८. तान्यपि द्वादशप्रभेदानि।
९. छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकारं [च] पठन्ति।
१०. तेषामप्यष्टादशप्रभेदानि।
११. अन्तस्था द्विप्रभेदा रेफवर्जिता: सानुनासिका निरनुनासिकाश्च।
१२. रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति।
१३. वर्ग्यो वर्ग्येण सवर्ण:।

७. अथ सप्तमं क्रमप्रकरणम्

१. एष क्रमो वर्णानाम्।
[तथैते कौशिकीया: श्लोका:—
सर्वान्तेऽयोगवाहत्वाद् विसर्गादिरिहाष्टक:।
अकार उच्चारणार्थो व्यञ्जनेष्वनुबध्यते ॥ १ ॥
≍क≍ पयो: कपकारौ च तद्वर्गीयाश्रयत्वत:।
पलिक्क्नी चक्ख्न्तुर्जग्ग्मर्जग्घ्नुरित्यत्र यद्वपु: ॥ २ ॥

नासिक्येनोक्तं कादीनां त इमे यमा:।
तेषामुकार: सस्थानवर्गीयलक्षक: ॥ ३ ॥]
२. तत्रैषां स्थानकरणप्रयत्नानां कथं प्रसिद्धिरित्युच्यते।
३. इह यत्र स्थाने वर्णा उपलभ्यन्ते तत् स्थानम्।
४. येन निर्वृत्यन्ते तत् करणम्।
५. प्रयतनं प्रयत्न:।
६. उत्साह: प्रयत्न:।
७. स्पृष्टतादि वर्णगुण:।

८. अथाष्टमं नाभितलप्रकरणम्

१. तत्र नाभिप्रदेशात् प्रयत्नप्रेरित: प्राणो नाम वायुरूर्ध्वमाक्रामन्नुर-आदीनां स्थानानामन्यतमस्मिन् स्थाने प्रयत्नेन विधार्यते। विधार्यमाण: सोऽपि तत्स्थानानि विहन्ति। तस्मात् स्थानाभिघाताद् ध्वनिरुत्पद्यत आकाशे, सा वर्णश्रुति:। स वर्णस्यात्मलाभ:।
२. तत्र वर्णानामुत्पद्यमाने यदा स्थानकरणप्रयत्नपर्यन्तं परस्परं स्पृशति सा स्पृष्टता।
३. यदेषत् स्पृशति सा ईषत्स्पृष्टता।
४. यदा दूरेण स्पृशति सा विवृतता।
५. यदा सामीप्येन स्पृशति सा संवृतता।
६. एषोऽन्त:प्रयत्न:।
७. अथ बाह्य: प्रयत्न:।
८. स एवेदानीं प्राणो नाम वायुरूर्ध्वमाक्रम्य मूर्ध्नि प्रतिहते निवृत्तो भवति, तदा कण्ठे संहन्यमाने गलबिलस्य संवृतत्वात् संवारो नाम वर्णधर्मो जायते, विवृतत्वाद् विवार:।
९. तौ संवारविवारौ।
१०. तत्र यदा कण्ठबिलं संवृतं तदा नादो जायते।
११. विवृते तु कण्ठबिले श्वासोऽनुजायते।
१२. तौ श्वासनादावनुप्रदानावित्याचक्षते।
१३. अन्ये श्वासनादानुप्रदानं व्यञ्जने नादवत्।

१४. तत्र यदा स्थानाभिघातजध्वनौ नादोऽनुप्रदीयते तदा नादध्वनि-संसर्गाद् घोषो जायते।
१५. यदा श्वासोऽनुप्रदीयते तदा श्वासध्वनिसंसर्गाद् अघोषो जायते।
१६. सा घोषवदघोषता।
१७. महति वायौ महाप्राणः।
१८. अल्पे वायावल्पप्राणः।
१९. साल्पप्राणमहाप्राणता।
२०. [यत्र] महाप्राणत्वम् ऊष्माणस्ते।
२१. तत्र यदा सर्वाङ्गानुसारी प्रयत्नस्तीव्रो भवति, तदा गात्राणां निग्रहः, कण्ठबिलस्य चाल्पत्वं स्वरस्य च वायोस्तीव्रगतित्वाद् रौक्ष्यं भवति। तमुदात्तमाचक्षते।
२२. यदा मन्दः प्रयत्नो भवति तदा गात्राणां प्रसन्नत्वम्, कण्ठबिलस्य च महत्त्वम्, स्वरस्य च वायोर्मन्दगतित्वाद् स्निग्धता भवति। तमनुदात्तमाचक्षते।
२३. उदात्तानुदात्तसन्निकर्षात् स्वरित इति।
२४. स एवं प्रयत्नोऽभिनिर्वृत्तः कृत्स्नः प्रयत्नो भवति।
२५. स एवमापिशलेः पञ्चदशभेदाख्या वर्णधर्मा भवन्ति।
२६. तद्यथा— स्पृष्टता ईषत्स्पृष्टता विवृतता संवृतता च।
संवारविवारौ श्वासनादौ घोषवदघोषता।
अल्पप्राणमहाप्राणता उदात्तानुदात्तस्वरिताः॥ इति॥
२७. इदानीं शिक्षाग्रन्थः श्लोकैरुपसंह्रियते –
२८. अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च॥
२९. स्पृष्टत्वमीषत्स्पृष्टत्वं संवृतत्वं तथैव च।
विवृतत्वं च वर्णानामन्तःकरणमुच्यते॥
३०. कालो विवारसंवारौ श्वासनादावघोषता।
घोषोऽल्पप्राणता चैव महाप्राणः स्वरास्त्रयः॥
३१. बाह्यं करणमाहुस्तान् वर्णानां वर्णवेदिनः॥

॥ इति पाणिनीय-शिक्षा॥

अथ पाणिनीय-शिक्षा

[वृद्धपाठः]

शिक्षा-भूमिका

१. आकाशवायुप्रभवः शरीरात् समुच्चरन् वक्त्रमुपैति नादः।
स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानो वर्णत्वमागच्छति यः स शब्दः॥

आकाशवायुप्रभवः=आकाश और वायु के संयोग से उत्पन्न **नादः**=कत्व, गत्वादि भेद-रहित अव्यक्तध्वनि **शरीरात्**=नाभिप्रदेश से **समुच्चरन्**=ऊपर उठता हुआ **वक्त्रम्**=मुखदेश को **उपैति**=प्राप्त होता है। और वह नाद **स्थानान्तरेषु**=कण्ठ, मूर्धा आदि स्थानों में **प्रविभज्यमानः**=प्रविभक्त होता हुआ **यः**=जो **वर्णत्वमागच्छति**=वर्णरूपता को प्राप्त करता है अर्थात् जो कत्व, गत्वादि व्यक्तध्वनि के रूप में परिवर्त्तित होता है **सः**=वह **शब्दः**=शब्द कहलाता है।

श्लोकात्मक पाणिनीयशिक्षा में शब्दोत्पत्ति के प्रकार का बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है-

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्। —श्लो०पा०शि० ६, ७

विवक्षया=कहने की इच्छा से **आत्मा**=जीवात्मा अपनी चिन्तनशक्ति के द्वारा संस्कार के रूप में विद्यमान स्वगत **अर्थान्**=अर्थों (शब्दों) को **बुद्ध्या**=बुद्धि से, स्ववृत्ति से **समेत्य**=एक बुद्धिविषयी बनाकर **मनः**=मन को **युङ्क्ते**=प्रेरित करता है। **मनः**=वह मन **कायाग्निम्**=जठराग्नि को **आहन्ति**=प्रेरित करता है, उद्बुद्ध करता है। **सः**=वह मनःप्रेरित अग्नि **मारुतम्**=वायु को प्रेरित करता है, चेष्टित करता है। **तु**=और वह **मारुतः**=वायु **उरसि**=उरःस्थान की ओर **चरन्**=ऊपर उठता हुआ, उरःस्थल में विस्तीर्ण होता हुआ कण्ठबिल को प्राप्त कर **मन्द्रं स्वरम्**=गम्भीर ध्वनि, नादध्वनि को **जनयति**=उत्पन्न करता है।

२. तमक्षरं ब्रह्म परं पवित्रं गुहाशयं सम्यगुशन्ति विप्राः।
स श्रेयसा चाभ्युदयेन चैव सम्यक् प्रयुक्तः पुरुषं युनक्ति॥

तम्=उस आकाश और वायु से उत्पन्न **गुहाशयम्**=बुद्धि में स्थित **अक्षरम्**=नाशरहित, नित्य और **परं पवित्रम्**=अत्यधिक शुद्ध, अपभ्रंशादि दोष रहित **ब्रह्म**=सर्वव्यापक शब्दराशि की **विप्राः**=मनीषी, मेधावी, विद्वान् जन **सम्यक्**=अच्छी प्रकार से **उशन्ति**=प्राप्ति की कामना करते हैं। **स एव**=वही बुद्धिस्थ पवित्रतम शब्द ही **सम्यक् प्रयुक्तः**=अच्छे प्रकार से प्रयोग किया हुआ **अभ्युदयेन**=इहलौकिक सुख से **च**=और **श्रेयसा**=पारलौकिक मुक्ति के सुख से **पुरुषम्**=मनुष्य को **युनक्ति**=युक्त कर देता है।

विशेष—आकाश सभी पञ्चमहाभूतों में सर्वप्रथम उत्पन्न होनेवाला है और उस का गुण शब्द भी सभी तन्मात्राओं में सबसे पहले उत्पन्न होने वाली तन्मात्रा है। इन दोनों में क्रमशः किसी भी महाभूत या तन्मात्रा का मिश्रण नहीं है। अतः शब्द को यहाँ '**परं पवित्रम्**' कहा गया है। आकाश के व्यापक होने से उसका गुण शब्द भी व्यापक है। शब्द के व्यापक होने से '**बृहत्त्वाद् ब्रह्म**' की निरुक्ति के अनुसार यहाँ इसे 'ब्रह्म' कहा गया है।

इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषयों को क्रमशः विषयसूचि के रूप में प्रस्तुत करते हैं—

३. स्थानमिदं करणमिदं प्रयत्न एष द्विधाऽनिलः।
स्थानं पीडयति वृत्तिकारः प्र क्रम एषोऽथ नाभितलात्॥

इदं स्थानम्=इस वर्ण का यह स्थान है ऐसा स्थान विषय का प्रतिपादक प्रथम प्रकरण है। **इदं करणम्**=इस वर्ण का यह करण है, ऐसा करण विषय का प्रतिपादक द्वितीय प्रकरण है। **एष द्विधा प्रयत्नः**=इस वर्ण का यह द्विविध प्रयत्न है, ऐसा द्विविध (आभ्यन्तर और बाह्य) यत्न के प्रतिपादक क्रमशः तृतीय एवं चतुर्थ प्रकरण हैं। **अनिलः स्थानं प्रपीडयति**=वर्णोत्पादक वायु स्थान को कैसे प्रपीड़ित, आघात करता

है? इस विषय का प्रतिपादक है पञ्चम प्रकरण। **वृत्तिकारः**= वृत्ति (काल) को वर्णों का भेदक मानने वाले प्राचीन आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित वर्णों के भेदों का वर्णन छठे प्रकरण में है। **एषः क्रमः**=वर्णों का यह क्रम है, ऐसा वर्णक्रम का प्रतिपादन सप्तम प्रकरण में है। **अथ नाभितलात्**='**तत्र नाभिप्रदेशात् प्रयत्नप्रेरितः प्राणो नाम वायुः०**' से प्रारम्भ होनेवाले विषय अर्थात् नाभितल आदि में होने वाले प्रयत्न आदि का निरूपण अष्टम प्रकरण में है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में आठ प्रकरण हैं, ऐसा जानें।

अब वर्णों के वर्गीकरण व भेदत्व के कारण एवं वर्णों की इयत्ता (संख्या) बतलाते हैं—

४. स्थानकरणप्रयत्नपरेभ्यो वर्णास्त्रिषष्टिः।

स्थानकरणप्रयत्नपरेभ्यः=कण्ठ्यादि स्थानों के भेद से, करण अर्थात् स्पृष्टकरणादि अन्तःप्रयत्नों के भेद से और बाह्य यत्नों के भेद से **वर्णाः**=वर्ण **त्रिषष्टिः**=तिरसठ हैं।

विशेष—अ, इ आदि वर्णों की और कवर्ग, चवर्ग आदि की भिन्नता उनके स्थान एवं करण की भिन्नता पर आधारित है। वैसे ही अ, आ आदि ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत वर्णों का तथा क, ख, ग, घ आदि वर्गीय वर्णों का भेदत्व उनके प्रयत्नों (काल, घोषत्वाघोषत्व, अल्पप्राणत्व, महाप्राणत्व आदि) पर आश्रित है। अतः पहले वर्णों के भेदत्व का कारण स्थानादि को बताकर तत्पश्चात् स्थानादि की भिन्नता के कारण वर्ण कितने होते हैं, यह बताया गया है।

५. चतुःषष्टिरित्येके।

स्थान, करण और प्रयत्नों के भेदों से वर्ण **चतुःषष्टिः**=चौसठ हैं, **इति**=ऐसा **एके**=किन्हीं पूर्वाचार्यों का मत है।

विशेष—यह मत पाणिनि के पूर्ववर्त्ती आचार्यों का है, पाणिनि के मत में वर्ण तिरसठ (६३) हैं। जिनके मत में दीर्घ 'ऌ' वर्ण है अथवा 'हुँ' नासिक्य वर्ण है, उनके मत में वर्ण चौंसठ (६४) हो जाते हैं। और जो उन दोनों वर्णों को मानते हैं, उनके मत में वर्ण पैंसठ (६५) हो जाते हैं, जैसे कि वाजसनेय प्रातिशाख्य में माना गया है।

६. तत्र वर्णानां केषां किं स्थानं किं करणं प्रयत्नश्च [कः], ते द्विधा विभजते।[१]

तत्र वर्णानाम्=इन तिरसठ वर्णों में **केषाम्**=किस वर्ण का **किं स्थानम्**=क्या स्थान है? **किं करणम्**=क्या करण है **च**=और **कः प्रयत्नः**=क्या प्रयत्न है? यह आगे निरूपित किया जायेगा। **ते द्विधा विभजते**=और उस प्रयत्न को द्विविध विभक्त करके निरूपित करेंगे अर्थात् आभ्यन्तर प्रयत्न एवं बाह्यप्रयत्न के रूप में पृथक्-पृथक् प्रकरण में प्रतिपादित करेंगे।

१. मूलपाठोऽत्र सन्दिग्धः।

१. अथ प्रथमं स्थानप्रकरणम्

१. तत्र स्थानं तावत्।

तत्र-अ०प०। स्थानम्-प्र०ए०। तावत्-अ०प०। **अर्थः**—(तत्र) स्थानकरणप्रयत्नादिषु (तावत्) प्रथमम्, पूर्वम् (स्थानम्) स्थानविषय उच्यते, निरूप्यत इति भावः।

भाषार्थ—(तत्र) स्थान, करण, प्रयत्न आदि वक्तव्य विषयों में से (तावत्) पहले (स्थानम्) वर्णों की उत्पत्ति का स्थान निरूपित किया जाता है।

२. अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः।

अकुहविसर्जनीयाः-प्र०ब०। कण्ठ्याः-प्र०ब०। **समासः**—अश्च कुश्च हश्च-विसर्जनीयश्च-अकुहविसर्जनीयाः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः। कण्ठे भवा उत्पन्ना जाता उपलब्धा इति कण्ठ्याः। शरीरावयवाच्च (अष्टा० ४.३.५५) इति भवार्थे यत्प्रत्ययः। **अर्थः**—(अकुहविसर्जनीयाः) अवर्णः कवर्गो हकारो विसर्गश्च (कण्ठ्याः) कण्ठदेशीयाः, कण्ठत उत्पद्यन्त उपलभ्यन्ते। कण्ठेनोच्चारणीया इति यावत्।

भाषार्थ—(अकुहविसर्जनीयाः) अवर्ण, कवर्ग, हकार और विसर्जनीय वर्ण (कण्ठ्याः) कण्ठदेशीय हैं अर्थात् कण्ठ स्थान से उच्चारणीय हैं।

३. हविसर्जनीयावुरस्यावेकेषाम्।

हविसर्जनीयौ-प्र०द्वि०। उरस्यौ-प्र०द्वि०। एकेषाम्-ष०ब०। **समासः**—हश्च विसर्जनीयश्चेति हविसर्जनीयौ-इतरेतरयोगद्वन्द्वः। उरसि भवौ उरस्यौ-पूर्ववद् यत्प्रत्ययः। **अर्थः**—(एकेषाम्) केषाञ्चिद् आचार्याणां मतेन (हविसर्जनीयौ) हवर्णः विसर्गश्च (उरस्यौ) उरःस्थानकौ विद्येते।

भाषार्थः—(एकेषाम्) किन्हीं आचार्यों के मतानुसार (हविसर्जनीयौ) हकार[१] और विसर्ग (उरस्यौ) उरःस्थानीय हैं अर्थात् उरःस्थान

१. हकारं पञ्चमैर्युक्तमन्तःस्थाभिश्च संयुतम्।
उरस्यं तं विजानीयात् कण्ठ्यमाहुरसंयुतम्॥ तु०—शौनक-शिक्षा ४४॥

से भी इनका उच्चारण किया जा सकता है।

४. जिह्वामूलीयो जिह्वयः।

जिह्वामूलीयः-प्र०ए०। जिह्वयः-प्र०ए०। **समासः**—जिह्वाया मूलम्, जिह्वामूलम्-षष्ठीतत्पुरुषः। तस्मिन् जिह्वामूले भवः=उत्पन्नो जिह्वामूलीयः-'जिह्वामूलाङ्गुलेश्छः' (अष्टा० ४.३.६२) इति छः प्रत्ययः। जिह्वाशब्दाद् भवार्थे 'शरीरावयवाच्च' (अष्टा० ४.३.५५) इति यति प्रत्यये सति जिह्वय इति सिध्यति।

अर्थः—(जिह्वामूलीयः) ≍क, ≍ख चेतिस्वरूपको जिह्वामूलीय-संज्ञको वर्णः (जिह्वयः) जिह्वास्थानीयो भवति अर्थात् जिह्वादेशीयो भवति। जिह्वामूलेन कण्ठदेशे उच्चारणीय इति यावत्।

भाषार्थ—(जिह्वामूलीयः) जिह्वामूलीय संज्ञक ≍क, ≍ख, वर्ण (जिह्वयः) जिह्वास्थानीय है अर्थात् इसका उच्चारण जिह्वामूल से करना चाहिये।

विशेष—यहाँ ऊपर से 'एकेषाम्' शब्द की अनुवृत्ति नहीं आती है। इसके दो कारण हैं। १. जिह्वामूलीय वर्ण के स्थान का कथन सिद्धान्ततः अन्यत्र कहीं नहीं है। २. इस सूत्र से पूर्व और पर के सूत्रों में 'एकेषाम्' शब्द पठित है, अर्थात् प्रकृत सूत्र में 'एकेषाम्' शब्द अनभीष्ट है **(तु०- उभयोर्विभाषयोर्मध्ये यो विधिः स नित्यः)**। अतः यह सूत्र पाणिनि का अपना सैद्धान्तिक सूत्र है।

५. कवर्गावर्णानुस्वारजिह्वामूलीया जिह्वया एकेषाम्।

कवर्गावर्णानुस्वारजिह्वामूलीयाः-प्र०ब०। जिह्वयाः-प्र०ब०। एकेषाम् ष०ब०। **समासः**—कवर्गश्चावर्णश्चानुस्वारश्च जिह्वामूलीयश्चेति कवर्गावर्णानुस्वारजिह्वामूलीयाः- इतरेतरयोगद्वन्द्वः। **अर्थः**—(एकेषाम्) कतिपयाचार्याणां मते (कवर्गावर्णानुस्वारजिह्वामूलीयाः) कवर्गीयाः कादयः पञ्च वर्णाः,अष्टादशभेदात्मकावर्णः,अनुस्वारसंज्ञकः'अं' इति वर्णः, जिह्वामूलीयसंज्ञकः '≍' इति च वर्णः (जिह्वयाः) जिह्वास्थानीया भवन्ति, जिह्वामूलदेशेनोच्चारणीया इति भावः।

भाषार्थ—(एकेषाम्) कुछ आचार्यों के मत में (कवर्गावर्णानुस्वार

जिह्वामूलीयाः) कवर्गीय कादि पाँच वर्ण, अठारह प्रकार के अवर्ण, अनुस्वारसंज्ञक 'अं' यह वर्ण और जिह्वामूलीयसंज्ञक '≍' यह वर्ण (जिह्वयाः) जिह्वास्थानीय हैं अर्थात् जिह्वा के मूलभाग से इन्हें बोलना चाहिये।

६. सर्वमुखस्थानमवर्णमित्येके।

सर्वमुखस्थानम्-प्र०ए०। अवर्णम्-प्र०ए०। इति-अ०प०। एके-प्र०ब०। **समासः**—सर्वञ्चादो मुखञ्च सर्वमुखम्, सर्वमुखं स्थानं यस्यावर्णस्य तत् सर्वमुखस्थानम्-कर्मधारयगर्भबहुव्रीहिः। **अर्थः**—(अवर्णम्) अष्टादशसंख्यात्मकम् अवर्णम्(सर्वमुखस्थानम्) सर्वमुख-स्थानीयम् अस्ति (इति) एवं (एके) केचनाचार्या मन्यन्ते। सर्वेषु स्थानेषु अवर्णमुच्चारयितुं शक्यत इति भावः।**'किं पुनरास्यम्[मुखम्]? ओष्ठात् प्रभृति प्राक्काकलकात्'** (महाभाष्यम् १.१.९)।

भाषार्थ—(अवर्णम्) अष्टादशभेदात्मक अवर्ण (सर्वमुखस्थानम्) सर्वमुखस्थानीय है (इति) ऐसा (एके) कुछ आचार्य मानते हैं।

७. कण्ठ्यानास्यमात्रानित्येके।

कण्ठ्यान्-द्वि०ब०। आस्यमात्रान्-द्वि०ब०। इति-अ०प०। एके-प्र०ब०। समासः—आस्यं मात्रम् (उच्चारणे) येषां तान् आस्समात्रान्। मात्रशब्दः साकल्यवाची। बहुव्रीहिः। कण्ठे भवाः कण्ठ्याः, तान् कण्ठ्यान्। **अर्थः**—(इति) एवमेव (एके) केचनाचार्याः (कण्ठ्यान्) अ-कु-ह-विसर्जनीयान् कण्ठ्यान् वर्णान् (आस्यमात्रान्) मुखमात्रान्, सर्वमुखस्थानान् मन्यते। सर्वमुखस्थानीयास्ते सर्व इति यावत्।

भाषार्थ—(इति) इसी प्रकार (एके) कुछ आचार्य (कण्ठ्यान्) अवर्ण, कवर्ग आदि कण्ठ्य वर्णों को (आस्यमात्रान्) सम्पूर्ण मुख स्थानीय मानते हैं।

८. इचुयशास्तालव्याः।

इचुयशाः-प्र०ब०। तालव्याः-प्र०ब०। **समासः**—इश्च चुश्च यश्च शश्चेति इचुयशाः इतरेतरयोगद्वन्द्वः। तालुनि भवाः तालव्याः-शरीरावयवाच्च (अष्टा०४.३.५५)इति यत् प्रत्ययः। **अर्थः**—(इचुयशाः) अष्टादश-

भेदात्मक इवर्णः, पञ्चसंख्यात्मकश्चवर्गः, सानुनासिकनिरनुनासिक-भेदात्मकं यकारद्वयम्, शकारश्च (तालव्याः) तालुदेशीया इति ज्ञेयाः। तालुस्थानत एत उच्चारणीया इति भावः।

भाषार्थ—(इचुयशाः)अठारह प्रकार के इवर्ण, चवर्गीय पाँच (च्, छ्, ज्, झ्, ञ्) वर्ण, सानुनासिक एवं निरनुनासिक यवर्ण (यँ, य्) और शकार, ये सभी वर्ण(तालव्याः) तालुस्थानीय हैं, अर्थात् इन्हें तालुस्थान से बोलना चाहिए।

९. ऋटुरषा मूर्धन्याः।

ऋटुरषाः-प्र०ब०। मूर्धन्याः-प्र०ब०। **समासः**-आ च टुश्च रश्च षश्च इति ऋटुरषाः- इतरेतरयोगद्वन्द्वः। मूर्ध्नि भवा मूर्धन्याः-शरीरावयवाच्च (अष्टा० ४.३.५५) इति यत् प्रत्ययः। **अर्थः**—(ऋटुरषाः) अष्टादश-भेदात्मक ऋकारः, पञ्च-वर्णात्मकष्टवर्गः, रेफः, षकारश्च (मूर्धन्याः) मूर्धदेशीया इत्यवगन्तव्याः। मूर्धस्थानत एत उच्चारणीया इति भावः।

भाषार्थ—(ऋटुरषा) अठारह प्रकार के ऋवर्ण, टवर्गस्थ ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण् ये पाँचों वर्ण, रेफ, षकार ये सभी वर्ण (मूर्धन्याः) मूर्धस्थानीय हैं। अर्थात् मूर्धा से इनका उच्चारण करना चाहिये।

१०. रेफो दन्तमूलीय एकेषाम्।

रेफः-प्र०ए०। दन्तमूलीयः-प्र०ए०। एकेषाम्-ष०ब०। **समासः**—दन्तानां मूलम् इति दन्तमूलम्-षष्ठीतत्पुरुषः। दन्तमूले भवो दन्तमूलीयः= दन्तमूलस्थानीयः। गहादिभ्यश्च (अष्टा० ४.२.१३८) इति छप्रत्ययः। **अर्थः**—(रेफः) र-वर्णः (दन्तमूलीयः) ऊर्ध्वदन्तमूलस्थानीयोऽस्तीति (एकेषाम्) केषाञ्चिदाचार्याणां मतम्।

भाषार्थ—(रेफः) रवर्ण (दन्तमूलीयः) दन्तमूलस्थानीय है अर्थात् ऊर्ध्व दाँतों के मूल भाग से उच्चारणीय है, ऐसा (एकेषाम्) किन्हीं आचार्यों का मत है।

११. दन्तमूलस्तु तवर्गः।

दन्तमूलः-प्र०ए०। तु-अ०प०। तवर्गः-प्र०ए०। **समासः**—दन्तानां मूलं यस्य [तवर्गस्य], सः दन्तमूलः-बहुव्रीहिः। एकेषामित्यनुवर्तते।

अर्थः—(तवर्गः) पञ्चवर्णात्मकस्तवर्गः (तु) अपि (दन्तमूलः) दन्तमूलस्थानीयोऽस्तीति (एकेषाम्) एकेषामाचार्याणां मतम्।

भाषार्थ—(तवर्गः) त्, थ्, द्, ध्, न् इन पाँच वर्णों से युक्त तवर्ग (तु) भी (दन्तमूलः) दन्तमूलस्थानीय है अर्थात् ऊपर के दन्तमूल से बोलने योग्य है (एकेषाम्) ऐसा किन्हीं आचार्यों का मत है।

१२. लृतुलसा दन्त्याः।

लृतुलसाः-प्र०ब०। दन्त्याः-प्र०ब०। **समासः**—आ च तुश्च लश्च सश्च इति लृतुलसाः-इतरेतरयोगद्वन्द्वः। दन्तेषु भवा दन्त्याः-शरीरावयवाच्च (४.३.५५) इति यत् प्रत्ययः। **अर्थः**—(लृतुलसाः) द्वादशभेदात्मकः स्वरसंज्ञक लृकारः, पञ्चवर्णात्मकस्तवर्गः, सानुनासिकनिरनुनासिक इति भेदद्वयात्मको लकारः, सकारश्च (दन्त्याः) दन्तस्थानीयाः। दन्तैः= उपरितनदन्तमूलस्थानेन एते वर्णा वक्तव्या इति भावः।

भाषार्थ—(लृतुलसाः) बारह प्रकार के लृवर्ण, त्, थ्, द्, ध्, और न् इन पाँच वर्णों से युक्त तवर्ग, सानुनासिक (लृँ) एवं निरनुनासिक (ल्) रूप दोनों लकार एवं सकार (दन्त्याः) दाँतों के मूल से बोलने योग्य हैं।

१३. वकारो दन्तोष्ठ्यः।

वकारः-प्र०ए०। दन्तोष्ठ्यः-प्र०ए०। **समासः**—दन्ताश्च ओष्ठश्च दन्तोष्ठम्, समाहारद्वन्द्वः। द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम् (अष्टा० २.४.२) इत्येकवद्भावः। स नपुंसकम् (अष्टा० २.४.१७) इति नपुंसकलिङ्गः। ओत्वोष्ठयोः समासे वा पररूपं वक्तव्यम्(अ० वा० ६.१.९४) इति पररूपम्। दन्तोष्ठे भवो दन्तोष्ठ्यः- दिगादिभ्यो यत् (अष्टा० ४.३.५४) इति यत्प्रत्ययः। **अर्थः**—(वकारः) सानुनासिकनिरनुनासिकभेदात्मको वकारः(दन्तोष्ठ्यः) दन्तस्थानीय ओष्ठकरणश्च भवति। उपरितनदन्तानाम् अधस्तनोष्ठस्य च सम्मिलितयत्नेन वक्तव्योऽयं वर्ण इति भावः।

भाषार्थः—(वकारः) सानुनासिक [वँ] और निरनुनासिक [व्] भेदात्मक वकार (दन्तोष्ठ्यः) उपरितन दाँतों के स्थान में तथा नीचे के ओष्ठ रूपी करण से उच्चारण करने योग्य है।

१४. सृक्किणी स्थानमेकेषाम्।

सृक्किणी-प्र०द्वि०। स्थानम्-प्र०ए०। एकेषाम्-ष०ब०। 'वकारः' इत्यनुवर्तते, षष्ठ्यन्तेन च तस्य विपरिणामः। **अर्थः**—(वकारस्य)वकारस्य (स्थानम्)उच्चारणस्थानम् (सृक्किणी) सृक्किणी भवत इति (एकेषाम्) केषाञ्चिदाचार्याणां मतम्।

भाषार्थ—(वकारस्य) वकार का (स्थानम्) उच्चारण स्थान (सृक्किणी) सृक्कि संज्ञक (मुख के किनारे) स्थान हैं ऐसा (एकेषाम्) किन्हीं आचार्यों का मत है। यहाँ पर भी नीचे का किनारा करण तथा उपरिस्थ सृक्कि स्थान है।

१५. उपूपध्मानीया ओष्ठ्याः।

उपूपध्मानीयाः-प्र०ब०। ओष्ठ्याः-प्र०ब०। **समासः**—उश्च पुश्च उपध्मानीयश्च इति उपूपध्मानीयाः-इतरेतरयोगद्वन्द्वः। **अर्थः**—(उपूपध्मानीयाः) अष्टादशप्रकारा उवर्णाः पादिपञ्चवर्णात्मकः पवर्गः उपध्मानीयसंज्ञकश्च (ᕁप) वर्णः एते सर्वे वर्णाः (ओष्ठ्याः) ओष्ठस्थानीयाः। उपरितनोष्ठप्रभवा इत्यर्थः।

भाषार्थ—(उपूपध्मानीयाः) अठारह प्रकार के उवर्ण, पु=पवर्ग अर्थात् प्, फ्, ब्, भ्, म् ये पाँच वर्ण और उपध्मानीय संज्ञक (ᕁ) वर्ण ये सभी वर्ण (ओष्ठ्याः) ओष्ठस्थानीय अर्थात् ऊपर के ओठ से उच्चारणीय हैं।

१६. अनुस्वारयमा नासिक्याः।

अनुस्वारयमाः प्र०ब०। नासिक्याः-प्र०ब०। **समासः**-अनुस्वारश्च यमाश्च इति अनुस्वारयमाः-इतरेतरयोगद्वन्द्वः। नासिकायां भवा नासिक्याः-शरीरावयवाच्च (अष्टा० ४.३.५५) इति यत्प्रत्ययः। **अर्थः**—(अनुस्वारयमाः) ह्रस्वदीर्घगुरुभेदात्मकः अनुस्वारसंज्ञकः वर्णः [अं], चत्वारश्च यमसंज्ञा वर्णाः (नासिक्याः) नासिकास्थानीयाः। नासिकयोच्चारणीया इति भावः।

भाषार्थ—(अनुस्वारयमाः) ह्रस्व, दीर्घ और गुरु भेदात्मक अनुस्वार संज्ञक 'अं' वर्ण तथा कुँ, खुँ, गुँ, घुँ ये चार यम (नासिक्याः) नासिकास्थानीय हैं अर्थात् नासिका से उच्चारणीय हैं।

अब आगे दो सूत्रों में अनुस्वार एवं यमों के स्थानविषयक अन्य आचार्यों के मत क्रमशः दिखलाते हैं—

१७. कण्ठनासिक्यमनुस्वारमेके।

कण्ठनासिक्यम्-द्वि०ए०। अनुस्वारम्-द्वि०ए०। एके-प्र०ब०। **समासः**—कण्ठश्च नासिका चेति कण्ठनासिकम्-समाहारद्वन्द्वः। द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम् (अष्टा० २.४.२) इत्येकवद्भावः, स नपुंसकम् (अष्टा० २.४.१७) इति नपुंसकत्वम्, कण्ठनासिके भवः कण्ठनासिक्यः [अनुस्वारः], तं कण्ठनासिक्यम्। **अर्थः**—(एके) केचनाचार्याः (अनुस्वारम्) अनुस्वारसंज्ञकं ह्रस्वदीर्घगुरुप्रकारकं वर्णं (कण्ठनासिक्यम्) कण्ठनासिकास्थानीयं मन्यन्ते।

भाषार्थ—(एके) कुछ आचार्य(अनुस्वारम्) ह्रस्व, दीर्घ और गुरु भेद से विद्यमान अनुस्वार को (कण्ठनासिक्यम्) कण्ठ्य और नासिक्य मानते हैं अर्थात् कण्ठ एवं नासिका से उच्चारणीय मानते हैं।

१८. यमाश्च नासिक्यजिह्वामूलीया एकेषाम्।

यमाः-प्र०ब०। च-अ०प०। नासिक्यजिह्वामूलीयाः-प्र०ब०। एकेषाम्-ष०ब०। नासिकायां भवा नासिक्याः-शरीरावयवाच्च (अष्टा० ४.३.५५) इति यत् प्रत्ययः। जिह्वामूले भवा जिह्वामूलीयाः-जिह्वामूलाङ्गुलेश्छः (अष्टा० ४.३.६२) इति छः प्रत्ययः। **समासः**-नासिक्याश्चामी जिह्वामूलीयाश्च इति नासिक्यजिह्वामूलीयाः-कर्मधारयः। **अर्थः**-(यमाः) कुँ खुँ इत्येवमादयश्चत्वारो यमसंज्ञका वर्णाः (च) तु (नासिक्य-जिह्वामूलीयाः) नासिका-जिह्वामूलस्थानीया इति (एकेषाम्) केषाञ्चिद् आचार्याणां मतम् इदम्।

भाषार्थ—(यमाः) कुँ खुँ आदि चार यम (च) तो (नासिक्य-जिह्वामूलीयाः) नासिका और जिह्वामूल स्थानीय हैं अर्थात् दोनों स्थानों से उच्चारणीय हैं, ऐसा (एकेषाम्) अन्य आचार्यों का मत है।

१९. ए ऐ कण्ठतालव्यौ।

ए ऐ-लुप्तविभक्तिकनिर्देशः। कण्ठतालव्यौ-प्र०द्वि०। **समासः**—कण्ठश्च तालु च इति कण्ठतालु-समाहारद्वन्द्वः। द्वन्द्वश्च प्राणि० (अष्टा०

२.४.२) इत्येकवद्भावः। स नपुंसकम् (अष्टा० २.४.१७) इति नपुंसकत्वम्। कण्ठतालुनि भवौ कण्ठतालव्यौ-दिगादिभ्यो यत् (अष्टा० ४.३.५४) इति यत्प्रत्ययः। **अर्थः**—(ए ऐ)द्वादश-प्रभेदात्मकौ सन्ध्यक्षरसंज्ञकौ ए, ऐ चेत्येतौ वर्णौ (कण्ठतालव्यौ) कण्ठतालुस्थानीयौ। उभाभ्यामपि स्थानाभ्यां वक्तव्यौ इति भावः।

भाषार्थ—(ए ऐ) बारह-बारह प्रकार के ए और ऐ ये दोनों वर्ण (कण्ठतालव्यौ) कण्ठ तथा तालु स्थानीय हैं। अर्थात् इन दोनों से बोलने योग्य हैं।

२०. ओ औ कण्ठोष्ठ्यौ।

ओ औ इति लुप्तविभक्तिकनिर्देशः। कण्ठोष्ठ्यौ-प्र०द्वि०। **समासः**-कण्ठश्च ओष्ठौ च कण्ठोष्ठम्-समाहारद्वन्द्वः। पूर्ववद् एकवद्भावो नपुंसकलिङ्गश्च। ''ओत्वोष्ठयोः समासे वा पररूपं वक्तव्यम्'' (अ० वा० ६.१.९४) इति पररूपम्। कण्ठोष्ठे भवौ कण्ठोष्ठ्यौ। पूर्ववद् यत्प्रत्ययः। **अर्थः**- (ओ औ) ओ औ चेत्येतौ सन्ध्यक्षरसंज्ञकौ द्वादशप्रभेदात्मकौ वर्णौ (कण्ठोष्ठ्यौ) कण्ठोष्ठस्थानीयौ। एताभ्यामुभाभ्यां स्थानाभ्यामुच्चारणीयाविति यावत्।

भाषार्थ—(ओ औ) बारह-बारह प्रकार के 'ओ' और 'औ' ये दोनों सन्ध्यक्षरसंज्ञक वर्ण (कण्ठोष्ठ्यौ) कण्ठ और उपरितन ओष्ठ स्थानों से उच्चारणीय हैं।

२१. ङञणनमाः स्वस्थाननासिकास्थानाः।

ङञणनमाः- प्र०ब०। स्वस्थाननासिकास्थानाः- प्र०ब०। **समासः**—ङश्च ञश्च णश्च नश्च मश्चेति ङञणनमाः-इतरेतरयोगद्वन्द्वः। स्वं स्थानं येषां ते स्वस्थानाः। नासिका स्थानं येषां ते नासिकास्थानाः-उभयत्र बहुव्रीहिः। स्वस्थानाश्च ते नासिकास्थानाश्चेति स्वस्थाननासिकास्थानाः-कर्मधारयः। आहत्य बहुव्रीहिगर्भकर्मधारयसमासः। **अर्थः**—(ङञणनमाः) ङ्, ञ्, ण्, न्, म् चेत्येते अनुनासिकसंज्ञका वर्गोत्तमाः वर्णाः (स्वस्थाननासिका-स्थानाः) स्वकीयस्थानीयाः सन्तो नासिकास्थानीयाश्च भवन्ति। ङकारः कण्ठनासिक्यो ञकारस्तालुनसिक्यो णकारो मूर्धनासिक्यो नकारो दन्त-

नासिक्यो मकारश्चोष्ठनासिक्य इति भावः।

भाषार्थ—(ङञणनमाः) प्रत्येक वर्ग के अन्तिम अनुनासिकसंज्ञक ङ्, ञ्, ण्, न् और म् ये पांच वर्ण (स्वस्थाननासिकास्थानाः) कण्ठ, तालु आदि अपने-अपने स्थान के साथ-साथ नासिकास्थानवाले भी हैं अर्थात् ङकार कण्ठनासिक्य, ञकार तालुनासिक्य, णकार मूर्धनासिक्य, नकार दन्तनासिक्य और मकार ओष्ठनासिक्य हैं।

२२. द्विवर्णानि सन्ध्यक्षराणि।

द्विवर्णानि-प्र०ब०। सन्ध्यक्षराणि-प्र०ब०। **समासः**—द्वौ वर्णौ येषां तानि द्विवर्णानि-बहुव्रीहिः।

अर्थः—(सन्ध्यक्षराणि) ए, ऐ, ओ, औ इत्येतानि सन्ध्यक्षरसंज्ञकानि अक्षराणि (द्विवर्णानि) द्विस्वरयुक्तानि, द्विस्वरात्मकानि। द्वयोर्द्वयोः स्वरवर्णयोः मेलनेन सम्पन्नानि इति भावः।

भाषार्थ—(सन्ध्यक्षराणि) सन्ध्यक्षरसंज्ञक ए, ऐ, ओ, औ ये चार वर्ण(द्विवर्णानि) दो- दो स्वरों के सम्मेलन (सन्धि) से निष्पन्न (उत्पन्न) वर्ण हैं।

२३. सरेफः ऋवर्णः।

सरेफः-प्र०ए०। ऋवर्णः-प्र०ए०। **समासः**—विद्यमानो रेफो यस्मिन् स सरेफः-बहुव्रीहिः। आ चासौ वर्णश्चेति ऋवर्णः-कर्मधारयः। **अर्थः**—(ऋवर्णः) ऋकारः (सरेफः) रेफेण [रेफश्रुत्या] सहितो विद्यत इति ज्ञेयम्।

भाषार्थ—(ऋवर्णः) ऋकार (सरेफः) रेफ अर्थात् रेफश्रुति के साथ रहता है, ऐसा जानें।

२४. [इति] संयुक्ताः वर्णाः।

[इति-अ०प०]। संयुक्ताः-प्र०ब०। वर्णाः-प्र०ब०। **अर्थः**—[(इति) एवम्](संयुक्ताः) वर्णान्तरैः संयुक्ता (वर्णाः) वर्णा वर्णिताः।

भाषार्थ—[(इति) इस प्रकार] (संयुक्ताः)वर्णान्तरों से संयुक्त, सम्मिश्रित (वर्णाः) वर्ण वर्णित हैं। अर्थात् संयुक्त वर्णों का वर्णन समाप्त हो गया है।

विशेषः—वर्णान्तरों से संयुक्त वा मिश्रित का तात्पर्य उन वर्णों की ध्वनि जैसी ध्वनियों से संयुक्त वा मिश्रित जानना चाहिये। क्योंकि आचार्यों का निर्णीत सिद्धान्त है कि एक वर्ण में वर्णान्तर नहीं रहते।

२५. एवमेतानि स्थानानि।

एवम्-अ०प०। एतानि-प्र०ब०। स्थानानि-प्र०ब०। **अर्थः**—(एतानि) अनुपदमेव प्रत्यक्षतो ज्ञातानि (स्थानानि) सर्वाणि वर्णोत्पादक-स्थानानि, वर्णोच्चारणस्थानानि (एवम्) इत्थं समाप्तानि। **'तत्र स्थानं तावत्'** (१.१) इति प्रतिज्ञातं स्थानप्रकरणं समाप्तमिति यावद्।

भाषार्थ—(एतानि) ये सभी अर्थात् अभी तक ज्ञात सभी (स्थानानि) वर्णों के उच्चारण स्थान (एवम्) इस प्रकार समाप्त हुये हैं। अर्थात् **'तत्र स्थानं तावत्'** कहकर जो स्थान प्रकरण प्रारम्भ किया गया था, वह सम्प्रति समाप्त हो गया है।

॥ इति प्रथमं स्थानप्रकरणम्॥

२. अथ द्वितीयं करणप्रकरणम्

१. करणमपि।

करणम्-प्र०ए०। अपि-अ०प०। **अर्थः**—स्थानप्रकरणं समाप्य सम्प्रति (करणम्) वर्णोच्चारणाय साधकतमभूतं करणं=साधनं (अपि) च उच्यते, उपदिश्यते।

भाषार्थ—स्थानप्रकरण को समाप्त कर अब क्रमप्राप्त (करणम्) वर्णोच्चारण के लिये अत्यन्त आवश्यक साधन, करण का प्रकरण भी कहा जाता है, उपदिष्ट किया जाता है।

विशेष—वर्णों के उच्चारण में करणभूत (साधनभूत) अवयव तीन हैं। वे हैं—जिह्वा, अधरोष्ठ, नासिकामूल।

२. जिह्वयतालव्यमूर्धन्यदन्त्यानां जिह्वा करणम्।

जिह्वयतालव्यमूर्धन्यदन्त्यानाम्-ष०ब०। जिह्वा-प्र०ए०। करणम्-प्र०ए०। **समासः**—जिह्वयाश्च तालव्याश्च मूर्धन्याश्च दन्त्याश्चेति जिह्वयतालव्यमूर्धन्यदन्त्याः, तेषां जिह्वयतालव्यमूर्धन्यदन्त्यानाम्-इतरेतरयोगद्वन्द्वः। जिह्वयादिषु सर्वत्र शरीरावयवत्वात् 'तत्र भव' इत्येतस्मिन्नर्थे पूर्ववद् यत्प्रत्ययः। **अर्थः**—(जिह्वयतालव्यमूर्धन्यदन्त्यानाम्) जिह्वयानाम्= कण्ठ्यानाम्=कण्ठस्थानीयानां जिह्वामूलस्थानीयानाञ्च, तालुस्थानीयानाम्, मूर्धस्थानीयानाम्, दन्तस्थानीयानाञ्च वर्णानाम् (करणम्) उच्चारणे प्रधानं प्रमुखञ्च साधनं (जिह्वा) जिह्वा अस्तीति विज्ञेयम्।

भाषार्थ—(जिह्वयतालव्यमूर्धन्यदन्त्यानाम्) कण्ठस्थानीय और जिह्वामूलस्थानीय, तालुस्थानीय, मूर्धस्थानीय और दन्तस्थानीय वर्णों के (करणम्) उच्चारण में प्रधान एवं प्रमुख साधन (जिह्वा) जिह्वा है।

३. जिह्वामूलेन जिह्वयानाम्।

जिह्वामूलेन-तृ०ए०। जिह्वयानाम्-ष०ए०। **समासः**—जिह्वाया मूलम् इति जिह्वामूलम्, तेन जिह्वामूलेन—षष्ठीतत्पुरुषः। **अर्थः**- (जिह्वयानाम्) कण्ठस्थानीयानाम् अ-कु-ह-विसर्जनीयानां जिह्वामूलस्थानीयानां ⟙क,

ㄨख इत्येवमादीनाञ्च वर्णानाम् उच्चारणम् (जिह्वामूलेन) जिह्वाया मूलभागेन स्पर्शयित्वा कर्तव्यम्।

भाषार्थ—(जिह्व्यानाम्) अ, कवर्ग आदि कण्ठ्य वर्णों का और ㄨक आदि जिह्वामूलीय वर्णों का उच्चारण (जिह्वामूलेन) जिह्वा के मूलभाग से स्पर्श करके करना चाहिये।

४. जिह्वामध्येन तालव्यानाम्।

जिह्वामध्येन-तृ०ए०। तालव्यानाम्-ष०ब०। **समासः**—जिह्वाया मध्य इति जिह्वामध्यः, तेन जिह्वामध्येन-षष्ठीतत्पुरुषः। **अर्थः**—(तालव्यानाम्) तालुस्थानीयानाम् इ-चु-य-शानां वर्णानामुच्चारणम् (जिह्वामध्येन) जिह्वाया मध्यभागेन कर्त्तव्यम्। तालुस्थानीयानामुपकरणं जिह्वामध्यभाग इति यावत्।

भाषार्थ—(तालव्यानाम्) तालुस्थानीय इवर्ण, चवर्ग, य् और श् वर्णों का उच्चारण(जिह्वामध्येन) जिह्वा के मध्य भाग से करना चाहिये।

अब तालव्यों के पश्चात् मूर्धन्यवर्णों का करण बतलाते हैं—

५. जिह्वोपाग्रेण मूर्धन्यानाम्।

जिह्वोपाग्रेण-तृ०ए०। मूर्धन्यानाम्-ष०ब०। **समासः**—अग्रस्य समीपम् इति उपाग्रम्-अव्ययीभावः। जिह्वाया उपाग्रम् इति जिह्वोपाग्रम्-षष्ठीतत्पुरुषः। आहत्य अव्ययीभावगर्भषष्ठीतत्पुरुषः, तेन जिह्वोपाग्रेण। **अर्थः**—(मूर्धन्यानाम्) मूर्धस्थानिनाम् ऋ-टु-र-षाणां वर्णानामुच्चारणम् (जिह्वो-पाग्रेण) जिह्वाग्रपृष्ठवर्त्तिभागेन कर्तव्यम्। मूर्धस्थानिनां वर्णानां साधनम् ऊर्ध्वजिह्वोपाग्रभाग इति भावः।

भाषार्थ—(मूर्धन्यानाम्) मूर्धा स्थान से उच्चार्यमाण ऋवर्ण, टवर्ग, रेफ और षकार इन वर्णों का उच्चारण (जिह्वोपाग्रेण) जिह्वाग्र के ठीक पिछले भाग से करना चाहिए अर्थात् मूर्धन्य वर्णों का करण ऊर्ध्व जिह्वोपाग्र है।

६. जिह्वाग्राधः करणं वा।

जिह्वाग्राधः-प्र०ए०। करणम्-प्र०ए०। वा-अ०प०। **समासः**—जिह्वाया अग्रम् इति जिह्वाग्रम्-षष्ठीतत्पुरुषः। जिह्वाग्रस्य अधः इति जिह्वाग्राधः-षष्ठीतत्पुरुषः। **अर्थः**—(वा) अथवा (मूर्धन्यानाम्) पूर्वोक्त

मूर्धस्थानिनां वर्णानाम् (करणम्) साधकतमम् (जिह्वाग्राधः) जिह्वाग्रस्य अधस्तनो भागः। मूर्धन्यवर्णानां करणं निम्नजिह्वोपाग्रोऽपीति यावत्।

भाषार्थ—(वा) अथवा (मूर्धन्यानाम्) पूर्वोक्त मूर्धन्य वर्णों का (करणम्) उपकरण (जिह्वाग्राधः) जिह्वाग्र का निचला भाग है। अर्थात् मूर्धन्य वर्णों का करण निम्नजिह्वोपाग्र (जिह्वाग्राध) भी है।

७. जिह्वाग्रेण दन्त्यानाम्।

जिह्वाग्रेण-तृ०ए०। दन्त्यानाम्-ष०ब०। **समासः**—जिह्वाया अग्रम् इति जिह्वाग्रम्, तेन जिह्वाग्रेण-षष्ठीतत्पुरुषः। **अर्थः**—(दन्त्यानाम्) लृ-तु-ल-सानां दन्त्यानां वर्णानाम् उच्चारणम् (जिह्वाग्रेण) जिह्वाया अग्रिमभागेन कर्तव्यम्। दन्त्यानां जिह्वाग्रभागः करणम् इति यावत्।

भाषार्थ—(दन्त्यानाम्) लृवर्ण, तवर्ग लकार और सकार इन दन्त्य वर्णों का उच्चारण (जिह्वाग्रेण) जिह्वा के अग्रभाग से करना चाहिये। अर्थात् दन्त्य वर्णों का करण जिह्वाग्र भाग है।

अभी तक जिह्व्य=कण्ठ्य, तालव्य, मूर्धन्य और दन्त्य वर्णों के उच्चारणार्थ उपयुक्त जिह्वावयवविशेषों का वर्णन किया गया है। अब अवशिष्ट ओष्ठ्य और नासिक्य वर्णों के करण का उल्लेख करते हैं।

८. शेषाः स्वस्थानकरणाः।

शेषाः-प्र०ब०। स्वस्थानकरणाः-प्र०ब०। **समासः**- स्वं स्थानम् एव करणं येषां ते स्वस्थानकरणाः-बहुव्रीहिः। शेषः=उक्तादन्यः शेषः। **अर्थः**-(शेषाः) अवशिष्टभूता उवर्ण-पवर्ग-उपध्मानीया ओष्ठ्या वर्णाः अनुस्वारयमादयश्च नासिक्या वर्णाः (स्वस्थानकरणाः) स्वस्थानकरणकाः। स्वं - स्वं स्थानमेव तेषां करणं साधनमिति यावत्। अनुस्वारयमादय इत्यत्रादिशब्देन **'हुँ इति नासिक्यः'** (यजुःप्राति० ८.२३) इति परिभाषितो वर्णो ग्राह्यः।

भाषार्थ—(शेषाः) अवशिष्टभूत उवर्ण, पवर्ग तथा उपध्मानीय ओष्ठ्य वर्ण और अनुस्वार यमादि नासिक्य वर्ण (स्वस्थानकरणाः) स्वस्थान करण वाले हैं अर्थात् क्रमशः उनका करण ओष्ठ एवं नासिका है।

प्रकृत सूत्र के भाव को इस प्रकार समझ सकते हैं—

१. **ओष्ठ्या अधरोष्ठकरणाः** (अथवा) **अधरोष्ठेन ओष्ठ्यानाम्।**

२. **नासिक्या नासिकामूलकरणाः** (अथवा) **नासिकामूलेन नासिक्यानाम्।**

इस प्रकरण में वर्णित विषय को अग्रिम प्रस्तार में दिखाते हैं—

सूत्र	स्थान	वर्ण	करण
२.३	जिह्वय (कण्ठ्य, जिह्वामूलीय)	अ, कु, ह, :, ≍क, ≍ख	जिह्वामूल
२.४	तालव्य	इ,चु,य,श (ए,ऐ)	जिह्वामध्य
२.५ २.६	मूर्धन्य	ऋ, टु, र, ष	ऊर्ध्वजिह्वोपाग्र/ निम्नजिह्वोपाग्र
२.७	दन्त्य	लृ, तु, ल, स	जिह्वाग्र
१.१३		व	अधरोष्ठ
२.८	ओष्ठ्य	उ, पु, ≍प, ≍फ (ओ, औ)	अधरोष्ठ
	नासिक्य	अं, कुँ, खुँ, गुँ, घुँ, हुँ	नासामूल

९. इत्येतत् करणम्।

इति-अ०प०। एतत्-प्र०ए०। करणम्-प्र०ए०। **अर्थः**—(एतत्) साम्प्रतमेवाधीतम् एतत् (करणम्) करणविषयप्रतिपादकं प्रकरणम् (इति) एवं समाप्तिमगात्।

भाषार्थ—(एतत्) अभी तक अधीत यह (करण) करणविषय का प्रतिपादक प्रकरण (इति) इस प्रकार समाप्त हुआ।

॥ इति द्वितीयं करणप्रकरणम्॥

३. अथ तृतीयम् अन्तःप्रयत्नप्रकरणम्।

'स्थानमिदं करणमिदं प्रयत्न एष द्विविधः' (शि०भू० ३) से सूचित विषयों में से स्थान और करण विषयों को बताकर अब क्रमप्राप्त आभ्यन्तरप्रयत्न की विवक्षा से सूत्र-प्रणयन प्रारम्भ करते हैं—

१. प्रयत्नो द्विविधः।

प्रयत्नः-प्र०ए०। द्विविधः-प्र०ए०। **समासः**—द्वे विधे (प्रकारौ) यस्य स द्विविधः, बहुव्रीहिः। **अर्थः**—(प्रयत्नः) यत्नः (द्विविधः) द्विप्रकारकोऽस्ति।

भाषार्थ—(प्रयत्न) यत्न (द्विविधः) दो प्रकार के हैं।

विशेष—वर्णनिष्पत्ति के लिए किये गये व्यापार को प्रयत्न (यत्न) कहते हैं।

तद्द्विविधत्वं वर्णयति—

२. आभ्यन्तरो बाह्यश्च।

आभ्यन्तरः-प्र०ए०। बाह्यः-प्र०ए०। च-अ०प०। अभ्यन्तरे भवः=आभ्यन्तरः। बहिर् भवः=बाह्यः। उभयत्र भवार्थे यत्। **अर्थः**—(आभ्यन्तरः) आभ्यन्तरयत्नः (बाह्यः च) बाह्ययत्नश्चेति प्रयत्नस्य द्विविधत्वम्।

भाषार्थ—वे (आभ्यन्तरः) आभ्यन्तरयत्न (बाह्यः च) और बाह्ययत्न हैं।

विशेष—आभ्यन्तर प्रयत्न को ही मुखप्रयत्न, आस्यप्रयत्न, अन्तःप्रयत्न, प्रयत्न, करण और प्रदान कहते हैं।

३. स्वस्थान आभ्यन्तरस्तावत्।

स्वस्थाने-स०ए०। आभ्यन्तरः-प्र०ए०। तावत्-अ०प०। **समासः**—स्वस्य स्थानमिति स्वस्थानम्, तस्मिन् स्वस्थाने-षष्ठीतत्पुरुषः। **अर्थः**—(तावत्) बाह्ययत्नोपदेशात् पूर्वं (स्वस्थाने) वर्णानां स्व-स्व-उद्भवस्थाने [आस्ये] जायमानः (आभ्यन्तरः) आभ्यन्तरयत्न उपदिश्यते।

भाषार्थ—(तावत्) बाह्ययत्न के उपदेश से पूर्व (स्वस्थाने) वर्णों के अपने-अपने उद्भवस्थान [मुख] में होने वाले (आभ्यन्तरः)

आभ्यन्तर यत्न का उपदेश किया जाता है।

विशेष—आभ्यन्तरयत्न पाँच प्रकार का है—१. स्पृष्टता, २. ईषत्स्पृष्टता, ३. ईषद्विवृतता, ४. विवृतता, ५. संवृतता।

४. स्पृष्टकरणाः स्पर्शाः।

स्पृष्टकरणाः-प्र०ब०। स्पर्शाः-प्र०ब०। **समासः**—स्पृष्टं करणम्=प्रयत्नो येषां ते स्पृष्टकरणाः-बहुव्रीहिः। जिह्वा वाधरोष्ठो वा यदा स्थानानि पूर्णतया स्पृशतः तदा सा स्पृष्टतोच्यते (द्र० ८.२)। **अर्थः**—(स्पर्शाः) स्पर्श-संज्ञकाः कादिमावसानाः पञ्चविंशतिर्वर्णाः (स्पृष्टकरणाः) स्पृष्टाभ्यन्तर-प्रयत्नकाः।

भाषार्थ—(स्पर्शाः) 'क्' से 'म्' तक के स्पर्शसंज्ञक २५ वर्ण (स्पृष्टकरणाः) स्पृष्ट प्रयत्न वाले हैं।

विशेष—स्पर्श वर्णों के उच्चारण में जिह्वा वा अधरोष्ठ कण्ठ आदि स्थानों का स्पर्श करके निष्क्रम्यमाण वायु को क्षणभर के लिये पूर्ण रूप से रोक देते हैं, पुनः स्थान से पृथक् होकर वायु को बाहर निकलने देते हैं। इसी व्यापार=आभ्यन्तरप्रयत्न को यहाँ स्पृष्टकरण कहा गया है। यहाँ 'करण' शब्द आभ्यन्तरप्रयत्न का वाचक है। **'क्रियत इति करणम्=प्रयत्नः'**[१] (उवटः- ऋक्प्राति० ६.२७) अर्थात् जो किया जाता है, प्रयत्न होता है, उसे करण (आभ्यन्तरप्रयत्न) कहते हैं।

५. ईषत्स्पृष्टकरणा अन्तस्थाः।

ईषत्स्पृष्टकरणाः-प्र०ब०। अन्तस्थाः-प्र०ब०। **समासः**-ईषत् स्पृष्टं करणं येषां ते ईषत्स्पृष्टकरणाः-त्रिपदबहुव्रीहिः। ईषच्छब्दः स्वल्पवाचकः। तथा चामरः- **'किञ्चिद् ईषन्मनागल्पे'** (३.४.८)। जिह्वा वाधरोष्ठो वा यदा स्थानं किञ्चित् सामीप्येन स्पृशतः, तदा सा ईषत्स्पृष्टतोच्यते (द्र० ८.३)। **अर्थः**—(अन्तस्थाः) य्, र्, ल्, व् इत्येते अन्तस्थसंज्ञा वर्णाः (ईषत्स्पृष्टकरणाः) किञ्चित्स्पृष्टप्रयत्नाः।

भाषार्थ—(अन्तस्थाः) य्, र्, ल् और व् ये चार अन्तस्थसंज्ञक वर्ण (ईषत्स्पृष्टकरणाः) स्वल्प स्पृष्ट प्रयत्न वाले हैं। अर्थात् स्वल्प स्पर्श

१. करणं कृतिरुच्चारणप्रकारः (न्यासः १.१.९, पृ० ९८)।

रूपी आभ्यन्तर प्रयत्न वाले हैं।

विशेष—अन्तःस्थों के उच्चारण में जिह्वा वा अधरोष्ठ उन-उन स्थानों से न तो स्पर्श वर्णों के तुल्य पूर्ण स्पर्श ही करते हैं और न ही उन-उन स्थानों से दूर ही रहते हैं, अपितु थोड़ा सा स्पर्श करते हुये, निष्क्रम्यमाण वायु को संकीर्ण मार्ग से निरन्तर निकलने देते हैं। इसी आस्यप्रयत्न को यहाँ ईषत्स्पृष्टकरण कहा गया है।

६. ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणः।

ईषद्विवृतकरणाः-प्र०ब०। ऊष्माणः-प्र०ब०। **समासः**—ईषद् विवृतं करणं येषां ते ईषद्विवृतकरणाः-त्रिपदबहुव्रीहिः। जिह्वा यदा स्थानं किञ्चिद् दूरेण स्पृशति तदा सा ईषद्विवृततोच्यते (द्र० ८.४)। **अर्थः**—(ऊष्माणः) ऊष्मसंज्ञकाः शषसा वर्णाः (ईषद्विवृत-करणाः) किञ्चिद्विवृतप्रयत्नकाः।

भाषार्थ—(ऊष्माणः) ऊष्मसंज्ञक श्, ष्, स् ये तीनों वर्ण (ईषद्-विवृतकरणाः) थोड़े दूर से स्पर्श करने रूपी आभ्यन्तरप्रयत्न वाले हैं।

७. विवृतकरणा वा।

विवृतकरणाः-प्र०ब०। वा-अ०प०। **समासः**—विवृतं करणं येषां ते विवृतकरणाः-बहुव्रीहिः। उपरिष्टात् ऊष्माणः इत्यनुवर्तते। जिह्वा यदा स्थानं दूरेण स्पृशति तदा सा विवृततोच्यते (द्र० ८.४)। **अर्थः**—(ऊष्माणः) ऊष्मसंज्ञको हवर्णः (विवृतकरणाः) विवृताभ्यान्तरप्रयत्नकः (वा) एव वर्तते। अवधारणे वापदम्। बहुवचनमत्राविवक्षितम्।

भाषार्थ—(ऊष्माणः) ऊष्मसंज्ञक हवर्ण (विवृतकरणाः) विवृतप्रयत्न वाला (वा) ही है।

८. विवृतकरणाः स्वराः।

विवृतकरणाः-प्र०ब०। स्वराः-प्र०ब०। **समासः**- पूर्ववद् बहुव्रीहिः। **अर्थः**—(स्वराः) अकारदयः स्वराः (विवृतकरणाः) विवृतप्रयत्नकाः सन्ति।

भाषार्थ—(स्वराः) अकारादि स्वर वर्ण (विवृतप्रयत्नाः) विवृत प्रयत्न वाले हैं।

९. तेभ्य ए ओ विवृततरौ।

तेभ्यः-पं०ब०। ए, ओ इति लुप्तविभक्तिकौ। विवृततरौ-प्र०द्वि०। द्वाविमौ ए ओ, तेभ्यः=उक्तस्वरवर्णेभ्योऽतिशयेन विवृतौ विवृततरौ-'द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ' (अष्टा० ५.३.५७) इति विभागे तरप्प्रत्ययः। **अर्थः**—(तेभ्यः) उक्तस्वरवर्णेभ्यः (ए ओ) ए ओ इत्येतौ सन्ध्यक्षरसंज्ञौ स्वरौ (विवृततरौ) अतिशयेन विवृतौ भवतः।

भाषार्थ—(तेभ्यः) उन स्वर वर्णों की अपेक्षा से (ए, ओ) ए, ओ ये दोनों सन्ध्यक्षर वर्ण (विवृततरौ) अधिक विवृत होते हैं।

१०. ताभ्यामै औ।

ताभ्याम्-पं०द्वि०। ऐ औ-इति लुप्तविभक्तिकौ। विवृततरावित्यनुवर्तते। **अर्थः**—(ताभ्याम्) ए-ओभ्याम् (ऐ औ) ऐ, औ चेत्येतौ वर्णौ (विवृततरौ) अतिशयेन विवृतौ भवतः।

भाषार्थ—(ताभ्याम्) 'ए, ओ' इन दोनों वर्णों की अपेक्षा (ऐ औ) 'ऐ, औ' ये दोनों वर्ण (विवृततरौ) अधिक विवृततर हैं।

११. ताभ्यामप्याकारः।

ताभ्याम्-पं०द्वि०। अपि-अ०प०। आकारः-प्र०ए०। विवृततरा-वित्यनुवर्तते, तच्चैकवचनान्तेन विपरिणम्यते। **अर्थः**—(ताभ्याम्) ऐ औ इत्येताभ्याम् (अपि) अपि (आकारः) आवर्णो विवृततरः। ताभ्याम-प्यधिको विवृतकरण इति यावत्।

भाषार्थ—(आकारः) आवर्ण (ताभ्याम्) ऐकार, औकार से (अपि) भी (विवृततरः) अधिक विवृत है।

१२. संवृतस्त्वकारः।

संवृतः-प्र०ए०। तु-अ०प०। अकारः-प्र०ए०। तु-इति अव्ययपदं **'विवृतकरणाः स्वराः'** (३.८) इति कथनव्यावृत्त्यर्थम्। **अर्थः**—(अकारः) षट्प्रभेदात्मको ह्रस्वावर्णः (तु) तु (संवृतः) संवृतप्रयत्नः।

भाषार्थः—(अकारः) छह प्रकार का ह्रस्व अवर्ण (तु) तो (संवृतः) संवृतप्रयत्नवाला है।

१३. इत्येषोऽन्तःप्रयत्नः।

इति-अ०प०। एषः-प्र०ए०। अन्तःप्रयत्नः-प्र०ए०। **अर्थः**—(इति) एवं प्रकारेण (एषः) **'प्रयत्नो द्विविधः'** (३.१) इत्युपक्रम्य वर्णित एषः (अन्तःप्रयत्नः) मुखस्याभ्यन्तरे क्रियमाणस्य प्रयत्नस्य विषयः समाप्तिं गतः।

भाषार्थ—(इति) इस प्रकार (एषः) 'प्रयत्नो द्विविधः' (३.१) सूत्र से प्रारम्भ कर वर्णित यह (अन्तःप्रयत्नः) मुख के अन्दर किये जाने वाले आभ्यन्तर प्रयत्न का विषय समाप्त हो गया।

विशेष—यहाँ अयोगवाहों का आभ्यन्तर प्रयत्न कहीं नहीं बताया गया। अतः प्रातिशाख्यों के मतानुसार उनका भी आभ्यन्तर प्रयत्न यहाँ दिया जा रहा है।

स्वरानुस्वारोष्मणामस्पृष्टं स्थितम् (ऋक्प्राति० १३.११)।

अर्थः—स्वर, अनुस्वार और ऊष्म (ह, श, ष, स, अः, ≍क, ≍प, अं) वर्णों का आभ्यन्तर प्रयत्न अस्पृष्ट स्थित है अर्थात् इनके उच्चारण में स्थान और करणों का स्पर्श नहीं होता, बल्कि स्थित अर्थात् निष्क्रिय होते हैं।

ऋक्प्रातिशाख्य में ह आदि आठ वर्णों की ऊष्म संज्ञा है। जिनमें विसर्गादि चार अयोगवाह भी सम्मिलित हैं। अतः विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय और अनुस्वार इन चार अयोगवाहों का आभ्यन्तर प्रयत्न 'अस्पृष्ट स्थित' है। शेष चार अयोगवाहों (यमों) के आभ्यन्तर प्रयत्न का उल्लेख कहीं नहीं मिलता है। क्योंकि यमों के उच्चारण में आस्यप्रयत्न होते ही नहीं हैं (द्र०-प्रथम परिशिष्ट)।

॥ इति तृतीयम् अन्तःप्रयत्नप्रकरणम्॥

४. अथ चतुर्थं बाह्ययत्नप्रकरणम्

१. अथ बाह्याः प्रयत्नाः।

अथ-अ०प०। बाह्याः-प्र०ब०। प्रयत्नाः-प्र०ब०। **अर्थः**—(अथ) अन्तःप्रयत्ननिरूपणानन्तरमिदानीम् (बाह्याः प्रयत्नाः) बाह्या यत्ना निरूप्यन्ते।

भाषार्थ—(अथ) अन्तःप्रयत्न के निरूपण के पश्चात् अब (बाह्याः प्रयत्नाः) बाह्य प्रयत्न निरूपित किये जाते हैं।

विशेष—बाह्ययत्न १३ (१५) प्रकार के हैं। वे हैं—विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण, अनुनासिक, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और काल (ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत)।

२. वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः शषसविसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीया यमौ च प्रथमद्वितीयौ विवृतकण्ठाः श्वासानुप्रदाना अघोषाः।

वर्गाणाम्-ष०ब०। प्रथमद्वितीयाः-प्र०ब०। शषस.....ध्मानीयाः-प्र०ब०। यमौ-प्र०द्वि०। च-अ०प०। प्रथमद्वितीयौ-प्र०द्वि०। विवृतकण्ठाः-प्र०ब०। श्वासानुप्रदानाः-प्र०ब०। अघोषाः-प्र०ब०। **समासः**—प्रथमाश्च द्वितीयाश्चेति प्रथमद्वितीयाः। शश्च षश्च सश्च विसर्जनीयश्च जिह्वामूलीयश्चोपध्मानीयश्च इति शषसविसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयाः। प्रथमश्च द्वितीयश्चेति प्रथमद्वितीयौ-सर्वत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः। विवृतः कण्ठः=काकलको येषां ते विवृतकण्ठाः। श्वासोऽनुप्रदानं=मूलकारणं येषां ते श्वासानुप्रदानाः। न विद्यते घोषो येषाम् उच्चारणे तेऽघोषाः-त्रिष्वपि बहुव्रीहिः। **अर्थः**—(वर्गाणाम्) कवर्ग-चवर्ग-टवर्ग-तवर्ग-पवर्गाणां (प्रथमद्वितीयाः) क्, च्, ट्, त्, प् इत्येते पञ्च प्रथमवर्णाः, ख्, छ्, ठ्, थ्, फ् इत्येते च पञ्च द्वितीयवर्णाः, तथा च (शषसविसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयाः) श्, ष्, स्, :, ≍क, ≍प, इत्येते वर्णाः (यमौ च प्रथमद्वितीयौ) कुँ इति प्रथमयमः, खुँ इति द्वितीययमश्च (विवृतकण्ठाः) विस्तृतस्वरयन्त्रमुखोद्भवाः (श्वासानुप्रदानाः) श्वासप्रकृतिकाः (अघोषाः) घोषध्वनिरहिताः भवन्ति। एते त्रयो बाह्ययत्नाः सन्त्युक्तानां वर्णानामिति यावत्।

भाषार्थ—(वर्गाणाम्) कवर्ग, चवर्ग, आदि पाँच वर्गों के (प्रथम-द्वितीयाः) प्रथम वर्ण क्, च्, ट्, त्, प् एवं द्वितीय वर्ण ख्, छ्, ठ्, थ्, फ् (शषसविसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयाः) श्, ष्, स्, विसर्जनीय [:], जिह्वामूलीय [≍क], उपध्मानीय (≍प), (यमौ च प्रथमद्वितीयौ) प्रथम यम [कुँ] और द्वितीययम [खुँ] ये सभी अठारह वर्ण (विवृतकण्ठाः) विस्तृत स्वरयन्त्र के मुख से उत्पन्न होने वाले हैं, (श्वासानुप्रदानाः) प्रधानतया श्वास से उत्पन्न होने वाले हैं, और (अघोषाः) घोषध्वनि रहित हैं। अर्थात् उक्त सभी वर्ण इन तीनों बाह्ययत्नों से युक्त हैं।

३. वर्ग्ययमानां प्रथमा अल्पप्राणा इतरे सर्वे महाप्राणाः।

वर्ग्ययमानाम्-ष०ब०। प्रथमाः-प्र०ब०। अल्पप्राणाः-प्र०ब०। इतरे-प्र०ब०। सर्वे-प्र०ब०। महाप्राणाः-प्र०ब०। वर्गे भवा वर्ग्याः-दिगादिभ्यो यत् (अष्टा० ४.३.५४) इति यत्प्रत्ययः। **समासः**—वर्ग्याश्च यमाश्चेति वर्ग्ययमाः, तेषां वर्ग्ययमानाम्-इतरेतरयोगद्वन्द्वः। अल्पः प्राणः [उत्पादकः] येषां ते अल्पप्राणाः। महान् प्राणः [उत्पादकः] येषां ते महाप्राणाः-बहुव्रीहिरुभयत्र। **अर्थः**—(वर्ग्ययमानाम्) वर्ग्येषु=वर्गस्थवर्णेषु यमेषु=यमसंज्ञकवर्णेषु च (प्रथमाः) क-च-ट-त-पाः कुँ इति च प्रथमसंज्ञकाः (अल्पप्राणाः) अल्पप्राणयत्नवन्तः। अल्पप्राणोद्भवा इति यावद्। (इतरे) प्रथमातिरिक्ताः ख-छ-ठ-थ-फाः खुँ इति च द्वितीयसंज्ञकाः तथा च श- ष- स- विसर्जनीय-जिह्वामूलीय-उपध्मानीयाः, एते (सर्वे) सर्वे वर्णास्तु (महाप्राणाः) महाप्राणवन्तः। अधिकप्राणोद्भवा इति भावः।

भाषार्थ—(वर्ग्ययमानाम्) वर्गस्थ वर्णों और यमसंज्ञक चार वर्णों में से (प्रथमाः) क्, च्, ट्, त्, प् और कुँ ये वर्ण (अल्पप्राणाः) अल्पप्राणयत्नवाले हैं अर्थात् अल्पप्राण से उत्पन्न होने वाले हैं। (इतरे) प्रथमातिरिक्त द्वितीयसंज्ञक वर्ण ख्, छ्, ठ्, थ्, फ् तथा खुँ एवं श्, ष्, स्, विसर्ग [:], जिह्वामूलीय (≍क), उपध्मानीय (≍प) ये (सर्वे) सभी वर्ण (महाप्राणाः) महाप्राण यत्नवाले हैं अर्थात् महाप्राण से उत्पन्न होने वाले हैं।

४. वर्गाणां तृतीयचतुर्था अन्तस्था हकारानुस्वारौ यमौ च तृतीयचतुर्थौ नासिक्यश्च संवृतकण्ठा नादानुप्रदाना घोषवन्तश्च।

वर्गाणाम्-ष०ब०। तृतीयचतुर्थाः-प्र०ब०। अन्तस्थाः-प्र०ब०। हकारानुस्वारौ-प्र०द्वि०। यमौ-प्र०द्वि०। च-अ०प०। तृतीयचतुर्थौ-प्र०द्वि०। नासिक्यः-प्र०ए०। च-अ०प०। संवृतकण्ठाः-प्र०ब०। नादानुप्रदानाः-प्र०ब०। घोषवन्तः-प्र०ब०। च-अ०प०। **समासः**—तृतीयाश्च चतुर्थाश्च इति तृतीयचतुर्थाः। हकारश्चानुस्वारश्चेति हकारानुस्वारौ। तृतीयश्च चतुर्थश्चेति तृतीयचतुर्थौ-सर्वत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः। संवृतः कण्ठो येषां ते संवृतकण्ठाः। नादोऽनुप्रदानं=मूलकारणं येषां ते नादानुप्रदानाः-उभयत्र बहुव्रीहिः। घोषोऽस्ति येषां [उच्चारणे], ते घोषवन्तः-तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् (अष्टा० ५.२.९४) इति मतुप्-प्रत्ययः। नासिकायां भवो नासिक्यः-शरीरावयवाच्च (अष्टा० ४.३.५५) इति यत्प्रत्ययः। **अर्थः**—(वर्गाणाम्) कवर्ग-चवर्ग-टवर्ग-तवर्ग-पवर्गाणाम् (तृतीयचतुर्थाः) तृतीयसंज्ञा ग-ज-ड-द-बाश्चतुर्थसंज्ञाश्च घ-झ-ढ-ध-भाः (अन्तस्थाः) अन्तस्थसंज्ञका य-र-ल-वाः (हकारानुस्वारौ) हकारः अनुस्वारः (अं) च(यमौ च तृतीयचतुर्थौ) तथा च 'गुँ' इति तृतीययमः, 'घुँ' इति च चतुर्थयमः (नासिक्यः च) हुँ इति नासिक्यसंज्ञको वर्णश्च (संवृतकण्ठाः) संवृतकाकलप्रभवाः (नादानुप्रदानाः) नादजन्याः (घोषवन्तः च) घोष-ध्वनियुक्ताः। एते त्रयो बाह्यप्रत्नाः सन्ति ग-ज-आदीनां वर्णानामिति यावत्।

भाषार्थ—(वर्गाणाम्) कवर्ग आदि पाँचों वर्गों के (तृतीयचतुर्थाः) तृतीय वर्ण ग्, ज्, ड्, द्, और ब् एवं चतुर्थ वर्ण घ्, झ्, ढ्, ध्, और भ् (अन्तस्थाः) अन्तस्थसंज्ञक य्, र्, ल् और व् (हकारानुस्वारौ) हकार तथा अनुस्वार [अं] वर्ण (यमौ च तृतीयचतुर्थौ) तृतीय संज्ञक यम 'गुँ' एवं चतुर्थ संज्ञक यम 'घुँ' (च) और (नासिक्यः) नासिक्य संज्ञक 'हुँ' वर्ण (संवृतकण्ठाः) संवृत काकलक से उत्पन्न होने वाले हैं (नादानुप्रदानाः) प्रधान रूप से नादध्वनि से उत्पन्न होने वाले हैं (च) और (घोषवन्तः) घोषवान् हैं। अर्थात् उक्त सभी वर्ण इन तीनों बाह्यप्रत्नों से युक्त हैं।

५. वर्ग्ययमानां तृतीया अन्तस्थाश्चाल्पप्राणा इतरे सर्वे महाप्राणाः।

वर्ग्ययमानाम्-ष०ब०। तृतीयाः-प्र०ब०। अन्तस्थाः-प्र०ब०। च-अ०प०। अल्पप्राणाः-प्र०ब०। इतरे-प्र०ब०। सर्वे-प्र०ब०। महाप्राणाः-प्र०ब०। वर्गे भवाः वर्ग्याः-दिगादिभ्यो यत् (अष्टा० ४.३.५४) इति यत्प्रत्ययः। **समासः**—वर्ग्याश्च यमाश्चेति वर्ग्ययमाः, तेषां वर्ग्ययमानाम्-इतरेतरयोगद्वन्द्वः। अल्पः प्राणो येषां तेऽल्पप्राणाः। महान् प्राणो येषां ते महाप्राणाः- उभयत्रबहुव्रीहिः। **अर्थः**—(वर्ग्ययमानाम्) वर्ग्येषु=वर्गस्थवर्णेषु यमेषु=यमसंज्ञकवर्णेषु च (तृतीयाः) ग-ज-ड-द-बाः 'गुँ' च तृतीयसंज्ञकाः (अन्तस्थाः) अन्तस्थसंज्ञका य-र-ल-वाः (च) च (अल्पप्राणाः) अल्पप्राणवन्तः, अल्पप्राणोद्भवा इति यावत्। (इतरे) पूर्वसूत्रोक्ताः तृतीयान्तस्थातिरिक्ताः घ-झ-ढ-ध-भाः 'घुँ' इति च चतुर्थसंज्ञकाः तथा च हकारानुस्वारनासिक्या इत्येते (सर्वे) सर्वे वर्णाः (महाप्राणाः) महाप्राणवन्तः।

भाषार्थ—(वर्ग्ययमानाम्) वर्गस्थ वर्णों और यमसंज्ञक चार वर्णों में से (तृतीयाः) तृतीयसंज्ञक ग्, ज्, ड्, द्, ब् एवं 'गुँ' वर्ण (च) तथैव (अन्तस्थाः) अन्तस्थ संज्ञक य्, र्, ल्, व् वर्ण (अल्पप्राणाः) अल्पप्राण यत्न वाले हैं। (इतरे) पूर्वसूत्र में वर्णित तृतीय वर्णों और अन्तस्थों से भिन्न चतुर्थसंज्ञक वर्ण घ्, झ्, ढ्, ध्, भ् एवं घुँ, तथा हकार, अनुस्वार और नासिक्य वर्ण, ये (सर्वे) सभी (महाप्राणाः) महाप्राणयत्नवाले हैं।

६. यथा तृतीयास्तथा पञ्चमाः।

यथा-अ०प०। तृतीयाः-प्र०ब०। तथा-अ०प०। पञ्चमाः-प्र०ब०। **अर्थः**—(तृतीयाः) ग-ज-ड-द-बाः (यथा) यादृशा बाह्यप्रत्नवन्तः (पञ्चमाः) ङ-ञ-ण-न-माः अपि (तथा) तादृशा एव अर्थात् संवृतकण्ठा नादानुप्रदाना घोषवन्तः अल्पप्राणाश्च भवन्तीति ज्ञेयम्।

भाषार्थ- (तृतीयाः) ग्, ज्, ड्, द्, ब् ये तृतीयसंज्ञक वर्ण (यथा) जिस प्रकार के बाह्यप्रत्नवाले हैं, (पञ्चमाः) ङ्, ञ्, ण्, न्, म् ये पञ्चम वर्ण भी (तथा) उसी प्रकार के बाह्यप्रत्नवाले हैं अर्थात् ये भी संवृतकण्ठ, नादानुप्रदान, घोषवान् और अल्पप्राण वाले हैं।

७. आनुनासिक्यमेषामधिको गुणः।

आनुनासिक्यम्-प्र०ए०। एषाम्-ष०ब०। अधिकः-प्र०ए०। गुणः-प्र०ए०। अनुनासिकस्य भाव आनुनासिक्यम्। 'पञ्चमाः' इत्यनुवर्तते, षष्ठ्यन्तेन च विपरिणम्यते। **अर्थः**—(एषाम्) उक्तानां पञ्चमवर्णानां [तृतीयेभ्यः] (आनुनासिक्यम्) अनुनासिकता (गुणः) बाह्ययत्नत्वरूपो गुणः (अधिकः) अतिरिक्तो विद्यते।

भाषार्थ—(एषाम्) पूर्वसूत्रोक्त पञ्चम वर्णों का [तृतीय वर्णों की अपेक्षा] (आनुनासिक्यम्) अनुनासिकता (गुणः) बाह्ययत्नत्व रूप गुण [धर्म] (अधिकः) अधिक है।

८. कादयो मावसानाः स्पर्शाः।

कादयः-प्र०ब०। मावसानाः-प्र०ब०। स्पर्शाः-प्र०ब०। **समासः**—कः आदिर्येषां ते कादयः। मः अवसानं येषाम्, मः अवसाने विद्यते येषां वेति मावसानाः-उभयत्र बहुव्रीहिः। **अर्थः**—(कादयः) ककारात् प्रभृति (मावसानाः) मकारपर्यन्तं विद्यमानास्सर्वे पञ्चविंशतिः वर्णाः (स्पर्शाः) स्पर्शाख्या ज्ञेयाः।

भाषार्थ—(कादयः) ककार से लेकर (मावसानाः) मकार पर्यन्त के सभी २५ वर्ण (स्पर्शाः) स्पर्श संज्ञक हैं।

९. यादयोऽन्तस्थाः।

यादयः-प्र०ब०। अन्तस्थाः-प्र०ब०। **समासः**—य आदिर्येषां ते यादयः-बहुव्रीहिः। **अर्थः**- (यादयः) य-र-ल-वा इति यकारादयः (अन्तस्थाः) अन्तस्थसंज्ञाः सन्ति।

भाषार्थ—(यादयः) य्, र्, ल्, व् ये यकारादि वर्ण (अन्तस्थाः) अन्तस्थ संज्ञक हैं।

१०.शादय ऊष्माणः।

शादयः-प्र०ब०। ऊष्माणः-प्र०ब०। **समासः**—श आदिर्येषां ते शादयः-बहुव्रीहिः। **अर्थः**—(शादयः) श-ष-स-हा वर्णाः (ऊष्माणः) ऊष्माख्याः सन्ति।

भाषार्थ—(शादयः) श्, ष्, स्, ह् वर्ण (ऊष्माणः) ऊष्मसंज्ञक हैं।

११.सस्थानेन द्वितीयाः।

सस्थानेन-तृ०ए०। द्वितीयाः-प्र०ब०। **समासः**- समानं स्थानं यस्य सः ऊष्मसंज्ञकवर्णः सस्थानः= तुल्यः, तेन सस्थानेन। 'इत्थम्भूतलक्षणे' (अष्टा० २.३.२१) इत्यनेन तृतीयाविभक्तिः। तुल्ययोगे वा तृतीया। **अर्थः**-(सस्थानेन) समानस्थानेन ऊष्मणा वर्णेन (द्वितीयाः) ख-छ-ठ-थ-फा ऊष्मतया लक्ष्यन्ते, तत्सदृशत्वात्। श-ष-साः ख-छ-आदीनां द्वितीयानां सस्थानाः=तुल्याः, यथा ते ऊष्माणः तथैव द्वितीया अपीति भावः। उभयोस्तुल्यत्वं सोष्मत्वम्।

भाषार्थ—(सस्थानेन) ऊष्मत्व प्राप्त किये हुये श-आदि ऊष्म वर्णों से (द्वितीयाः) ख्, छ्, ठ्, थ्, फ् ये वर्ण भी ऊष्म वर्ण के रूप में लक्षित होते हैं। अर्थात् श्-आदि जिस प्रकार ऊष्म बाह्ययत्न वाले हैं, वैसे ही ख् आदि द्वितीय वर्ण भी ऊष्म बाह्ययत्न वाले हैं।

१२.हकारेण चतुर्थाः।

हकारेण-तृ०ए०। चतुर्थाः-प्र०ब०। इहापि पूर्वपद् इत्थम्भूतलक्षणे तृतीया, तुल्यार्थयोगे वा। **अर्थः**—(हकारेण) ऊष्मत्वप्रकारविशेषभूत-हवर्णेन (चतुर्थाः) कवर्गादीनां घकारादयश्चतुर्थवर्णाः सोष्मत्वेन लक्ष्यन्ते। यथा हकार ऊष्मा, तथैव चतुर्था इति यावत्।

भाषार्थ—(हकारेण) ऊष्मत्वरूप प्रकार विशेषता को प्राप्त किये हुये हवर्ण के द्वारा (चतुर्थाः) कवर्ग आदियों के घकारादि चतुर्थ वर्ण सोष्म प्रतीत=लक्षित होते हैं। अर्थात् हकार जैसा सोष्म है, वैसे ही चतुर्थ वर्ण भी सोष्म हैं। यह पूर्वसूत्र का अपवाद है।

सर्वे स्वरा घोषवन्तो बलवन्तो वक्तव्याः (छां० उप० २.२२.५)। सभी स्वरों (अचों) को घोषयुक्त और बलयुक्त बोलना चाहिए। घोषवचन से स्वरों का संवार एवं नाद बाह्ययत्न भी जानना चाहिए। बलवत्त्व की व्याख्या करते हुए राघवेन्द्र तीर्थ जी लिखते हैं—बलवन्तो विवृताख्यप्रयत्नवन्तो वक्तव्याः। अर्थात् सभी स्वर विवृतनामक अन्तःप्रयत्न से बोलने चाहिएं जिसका वर्णन पूर्वप्रकरण में हो चुका है।

१३. इत्येष बाह्यः प्रयत्नः।

इति-अ०प०। एषः-प्र०ए०। बाह्यः-प्र०ए०। प्रयत्नः-प्र०ए०।

अर्थः—(एषः) अनुपदमेव प्रतिपादित एषः (बाह्यः) आस्यप्रयत्नभिन्नो बाह्यः (प्रयत्नः) यत्नः (इति) एवं प्रकारेण समाप्तिमगात्।

भाषार्थ—(एषः) अनुपद ही प्रतिपादित यह (बाह्यः) आस्यप्रयत्न से भिन्न बाह्य (प्रयत्नः) यत्न (इति) इस प्रकार समाप्त हो गया है।

॥ इति चतुर्थं बाह्ययत्नप्रकरणम्॥

५. अथ पञ्चमं स्थानप्रपीडनप्रकरणम्

द्विविध प्रयत्नों के निरूपण के उपरान्त अब '**स्थानमिदं.....**' (३) श्लोक में प्रतिज्ञात '**अनिलः स्थानं प्रपीडयति**' अर्थात् वर्णोत्पत्ति में वायु तत्तद् स्थानों में किस प्रकार आघात करता है? इस विषय के प्रतिपादक प्रकरण को प्रारम्भ करते हैं।

१. तत्र स्पर्शयमवर्णकारो वायुरयःपिण्डवत् स्थानमभि-पीडयति।

तत्र-अ०प०। स्पर्शयमवर्णकारः-प्र०ए०। वायुः-प्र०ए०। अयः-पिण्डवत्- अ०प०। स्थानम्-द्वि०ए०। अभिपीडयति-क्रि०प०। **समासः**— स्पर्शाश्च यमाश्चेति स्पर्शयमाः-इतरेतरयोगद्वन्द्वः। स्पर्शयमाश्च ते वर्णाश्चेति स्पर्शयमवर्णाः-कर्मधारयतत्पुरुषः। तान् स्पर्शयमवर्णान् करोति= उत्पादयतीति स्पर्शयमवर्णकारः-उपपदतत्पुरुषः। कर्मण्यण् (अष्टा० ३.२.१) इत्यण्। अयसः पिण्डम्-अयःपिण्डम्-षष्ठीतत्पुरुषः। अयःपिण्डेन तुल्यम् आघातक्रिया अयःपिण्डवत्-'तेन तुल्यं क्रिया चेद् वतिः' (अष्टा० ५.१.११४) इति वतिप्रत्ययः। **अर्थः**—(तत्र) वर्णोत्पादनार्थं क्रियमाणे प्रयत्ने (स्पर्शयम-वर्णकारः) स्पर्शाख्यानां पञ्चविंशतिवर्णानां चतुर्णाञ्च यमानाम् उत्पादकः (वायुः) प्रयत्नप्रेरित ऊर्ध्वं चरन् वायुः (स्थानम्) कण्ठादिवर्णोच्चारणस्थानम् (अयःपिण्डवत्) लोहगोलकवत् (अभि-पीडयति) आहन्ति। करप्रेरितायोगोलकं कुड्यादिषु यथाघातं करोति तथैव वायुरपि स्पर्शयमानामुच्चारणे तत्तत्-स्थान आघातं करोति इति यावत्।

भाषार्थ—(तत्र) वर्णों की उत्पत्ति के लिए क्रियमाण प्रयत्न में

(स्पर्शयमवर्णकारः) स्पर्श संज्ञक पच्चीस वर्णों का और चार यमों का उत्पादक (वायुः) प्रयत्नप्रेरित एवं ऊपर [मुख] की ओर उठता हुआ वायु (स्थानम्) कण्ठादि वर्णोच्चारणस्थान को (अयःपिण्डवत्) लोहे के गोले के समान (अभिपीडयति) आघात करता है। अर्थात् हाथ से फेंका हुआ लोहे का पिण्ड दीवारादि में जिस प्रकार का तीव्र आघात करता है, उस जैसा ही आघात वायु भी स्पर्श तथा यमों के उच्चारण में उस-उस स्थान में करता है।

२. अन्तस्थवर्णकारो वायुर्दारुपिण्डवत्।

अन्तस्थवर्णकारः-प्र०ए०। वायुः-प्र०ए०। दारुपिण्डवत्-अ०प०। **समासः**—अन्तस्थाश्च ते वर्णाश्चेति अन्तस्थवर्णाः कर्मधारयतत्पुरुषः। तान् करोतीत्यन्तस्थवर्णकारः-उपपदतत्पुरुषः। कर्मण्यण् (अष्टा० ३.२.१) इत्यण्। दारुणः पिण्डं दारुपिण्डम्-षष्ठीतत्पुरुषः। दारुपिण्डेन तुल्यम् आघातक्रियेति दारुपिण्डवत्-तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः (अष्टा० ५.१.११४) इति वतिप्रत्ययः। 'तत्र', 'स्थानम्', 'अभिपीडयति' इति चानुवर्तन्ते। **अर्थः**—(तत्र) अन्तस्थवर्णोत्पत्त्यर्थं क्रियमाणे यत्ने (अन्तस्थवर्णकारः) अन्तस्थाख्यानां य-र-ल-वानां वर्णानां जनकः (वायुः) फुप्फुसात् मुखं प्रत्यागच्छन् वायुः (स्थानम्) यकारादीनामुच्चारणस्थानम् (दारुपिण्डवत् अभिपीडयति) हस्तप्रक्षिप्तदारुपिण्डं भित्त्यादिकं यथाहन्ति तथाहन्ति।

भाषार्थ—(तत्र) अन्तस्थवर्णों की उत्पत्ति के लिए किये जाने वाले यत्न में (अन्तस्थवर्णकारः) अन्तस्थ संज्ञक य, र, ल, व वर्णों का जनक (वायुः) फेफड़े से मुख की ओर आनेवाला वायु (स्थानम्) यकारादि के उच्चारण स्थान (तालवादि) को (दारुपिण्डवत् अभिपीडयति) वैसे ही आघात करता है, जैसे कि हाथ से फेंका हुआ लकड़ी का गोला दीवारादि में आघात करता है।

३. ऊष्मस्वरवर्णकारो वायुरूर्णापिण्डवत्।

ऊष्मस्वरवर्णकारः-प्र०ए०। वायुः-प्र०ए०। ऊर्णापिण्डवत्-अ०प०। **समासः**-ऊष्माणश्च स्वराश्चेति ऊष्मस्वराः- इतरेतरयोगद्वन्द्वः। ऊष्मस्वराश्च ते वर्णाश्चेति ऊष्मस्वरवर्णाः-कर्मधारयतत्पुरुषः। तान् ऊष्मस्वरवर्णान् करोतीत्यूष्मस्वरवर्णकारः-उपपदतत्पुरुषः। कर्मण्यण् (अष्टा० ३.२.१)

इत्यण्। ऊर्णायाः पिण्डम् ऊर्णापिण्डम्-षष्ठीतत्पुरुषः। ऊर्णापिण्डेन तुल्यं आहननम् इति ऊर्णापिण्डवत्-तेन तुल्यं० (अष्टा० ५.१.११४) इति वतिप्रत्ययः। 'तत्र' 'स्थानम्' 'अभिपीडयति' इति चानुवर्तन्ते। **अर्थः**—(तत्र) ऊष्मणः स्वरांश्चोच्चारयितुं क्रियमाणे यत्ने (ऊष्मस्वरवर्णकारः) ऊष्मस्वरवर्णानुकूलः (वायुः) मुखदेशं प्राप्तो वायुः (स्थानम्) ऊष्मस्वरवर्णानां कृते अनुकूलितं स्थानम् (अभिपीडयति) तथाघातं विदधाति (ऊर्णापिण्डवत्) यथा ऊर्णासंघातः।

भाषार्थ—(तत्र) ऊष्म और स्वर वर्णों को उच्चारित करने के लिए क्रियमाण यत्न में (ऊष्मस्वरवर्णकारः) ऊष्म एवं स्वर वर्णों के लिए अनकूल=उपयुक्त (वायुः) मुख में आगत वायु (स्थानम्) ऊष्म तथा स्वर वर्णों के लिए अनुकूलित स्थान को (अभिपीडयति) वैसे ही आघात करता है, (ऊर्णापिण्डवत्) जैसे ऊन का गोला करता है।

विशेष—प्रकृत सूत्र के बाद अर्थात् इस प्रकरण के अन्त में पाणिनीय शिक्षा के लघुपाठ में '**उक्ताः स्थानकरणप्रयत्नाः**' सूत्रपाठ मिलता है। जो कि यहाँ भी अपेक्षित है।

॥ इति पञ्चमं स्थानप्रपीडनप्रकरणम्॥

६. अथ षष्ठं वृत्तिकारप्रकरणम्

'**अनिलः स्थानं प्रपीडयति**' प्रकरण की समाप्ति के पश्चात् अब क्रमप्राप्त '**वृत्तिकार**' प्रकरण को आरम्भ करते हैं। वृत्तिकाराः=काल-प्रमाणकाराः अर्थात् कालप्रमाण को वर्णों का भेदक मानने वाले आचार्य। उन सबका मत यहाँ प्रदर्शित किया जा रहा है।[१] यह मत पाणिनि को भी अभीष्ट है।

१. एवं व्याख्याने वृत्तिकाराः पठन्ति-अष्टादशप्रभेदमवर्ण-कुलमिति। तत् कथमुक्तम्।

एवम्-अ०प०। व्याख्याने-स०ए०। वृत्तिकाराः-प्र०ब०। पठन्ति-क्रि०प०। अष्टादशप्रभेदम्-प्र०ए०। अवर्णकुलम्-प्र०ए०। इति-अ०प०। तत्- प्र०ए०। कथम्-अ०प०। उक्तम्-प्र०ए०। **समासः**—वृत्तिं कुर्वन्तीति वृत्तिकाराः उपपदतत्पुरुषः। अष्टादश प्रभेदाः सन्ति यस्य तद् अष्टादश-प्रभेदम्-बहुव्रीहिः। अश्चासौ वर्णश्चेति अवर्णः-कर्मधारयः। अवर्णस्य कुलम् इति अवर्णकुलम्-कर्मधारयगर्भषष्ठीतत्पुरुषः। **अर्थः**—(वृत्तिकाराः) वृत्त्या, कालेन वर्णभेदो भवतीति मन्यमाना आचार्याः[१] (व्याख्याने) स्व-स्व व्याख्यानेषु (एवम्) इत्थम् (पठन्ति) वर्णयन्ति, यद् (अवर्णकुलम्) अवर्णसमूहः (अष्टादशप्रभेदम्) अष्टादशप्रभेदात्मकः (इति) एवम्। (तत्) तदष्टा-दशप्रभेदम् (कथम्) कथं भवतीति जिज्ञासायाम् (उक्तम्) गदितम् यद्—

भाषार्थ—(वृत्तिकाराः) मात्रादि कालभेद से वर्ण भेद होता है, ऐसा मानने वाले आचार्य (व्यख्याने) अपने-अपने व्यख्यानों में (एवम्) इस प्रकार (पठन्ति) वर्णन करते हैं कि (अवर्णकुलम्) अवर्ण की जाति (अष्टादशप्रभेदम्) अठारह प्रकार की है (इति) ऐसा। (तत्) वह

१. अभ्यासार्थे द्रुतां वृत्तिं प्रयोगार्थे तु मध्यमाम्। शिष्याणामुपदेशार्थं कुर्याद् वृत्तिं विलम्बिताम् (या०शि० ५४)॥ यहाँ कालपरिमाण विशेषों के लिए वृत्तिशब्द का प्रयोग किया गया है। प्रकृत प्रसङ्ग में ह्रस्वादि कालप्रमाणों के लिए वृत्तिशब्द का प्रयोग है। अपि च द्रष्टव्य— ''वृत्तिपृथक्त्वं तु नोपपद्यते'' (महाभाष्यम् १.१.६९)।

अठारह प्रकार का प्रभेद (कथम्) कैसा होता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर (उक्तम्) कहा है कि—

२. ह्रस्वदीर्घप्लुतत्वाच्च त्रैस्वर्योपनयेन च। आनुनासिक्य-भेदाच्च संख्यातोऽष्टादशात्मकः॥ इति॥

ह्रस्वदीर्घप्लुतत्वात्-पं०ए०। च-अ०प०। त्रैस्वर्योपनयेन-तृ०ए०। च-अ०प०। आनुनासिक्यभेदात्-पं०ए०। च-अ०प०। संख्यातः- प०ए०। अष्टादशात्मकः-प्र०ए०। इति-अ०प०। **समासः**—ह्रस्वश्च दीर्घश्च प्लुतश्च इति ह्रस्वदीर्घप्लुताः-इतरेतरयोगद्वन्द्वः। तेषां भावो ह्रस्वदीर्घप्लुतत्वम्। तस्माद् ह्रस्वदीर्घप्लुतत्वाद्। त्रयश्च ते स्वराश्चेति त्रिस्वराः-कर्मधारयः। त्रय एव स्वरास्त्रैस्वर्यमिति स्वार्थे वा ष्यञ्। त्रैस्वर्यस्य उपनयः-त्रैस्वर्योपनयः, तेन त्रैस्वर्योपनयेन-षष्ठीतत्पुरुषः। अनुनासिकस्य भावः-आनुनासिक्यम्। तस्य भेद इति आनुनासिक्यभेदः, तस्मात् आनुनासिक्य-भेदात्-षष्ठीतत्पुरुषः।

अर्थः—(ह्रस्वदीर्घप्लुतत्वात्) अ, आ, अ३ इति ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत-भेदेन त्र्यात्मकोऽवर्णः। तत्रापि प्रत्येकं (त्रैस्वर्योपनयेन) उदात्त-अनुदात्त-स्वरितैर्युक्तत्वात् नवात्मकोऽवर्णः। पुनश्च प्रत्येकं (आनुनासिक्यभेदात्) निरनुनासिकसानुनासिकभेदेन (अष्टादशात्मकः) अष्टादशात्मोऽवर्ण इति अवर्णः (संख्यातः) परिगणितो ज्ञेयः।

भाषार्थ—अवर्ण (ह्रस्वदीर्घप्लुतत्वात्) अ, आ, अ३ इस प्रकार ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत भेद से तीन प्रकार का है और उनमें प्रत्येक वर्ण का (त्रैस्वर्योपनयेन) उदात्त, अनुदात्त, स्वरित का भेद होने से अवर्ण नौ प्रकार का होता है। उनमें भी प्रत्येक वर्ण (आनुनासिक्यभेदात्) निरनुनासिक, सानुनासिक भेद से विभक्त होकर (अष्टादशात्मकः) अवर्ण अठारह प्रकार का होता है, इस प्रकार अवर्ण (संख्यातः) परिगणित है, ऐसा जानना चाहिये।

विशेष—ये सम्पूर्ण भेद तीन प्रकार से विभक्त हैं। जैसे-

१. कालकृतभेद—**ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः**(अष्टा० १.२.२७)

२. स्थानभागकृतभेद—

उच्चैरुदात्तः, नीचैरनुदात्तः, समाहारः स्वरितः

(अष्टा० १.२.२९-३१)

३. नासिकाकृतभेद—**मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः**

(अष्टा० १.१.८)

स्पष्टता के लिए इन सम्पूर्ण भेदों को निम्न प्रस्तार में दिखाते हैं—

	उदात्त		अनुदात्त		स्वरित	
	निरनु०	सानु०	निरनु०	सानु०	निरनु०	सानु०
ह्रस्व	अ	अँ	अ̲	अ̲ँ	अ̀	अ̀ँ
दीर्घ	आ	आँ	आ̲	आ̲ँ	आ̀	आ̀ँ
प्लुत	अ३	अँ३	अ̲३	अ̲ँ३	अ̀३	अ̀ँ३

३. एवमिवर्णादयः।

एवम्-अ०प०। इवर्णादयः-प्र०ब०। **समासः**—इवर्ण आदिर्येषां त इवर्णादयः-बहुव्रीहिः। **अर्थः**—(एवम्) पूर्वोक्तप्रकारेणैव (इवर्णादयः) इकारादयोऽपि स्वराः अष्टादशप्रभेदाः सन्ति।

भाषार्थ—(एवम्) पूर्वसूत्रोक्त प्रकार के अनुसार ही (इवर्णादयः) इकारादि स्वर भी अठारह-अठारह प्रकार के हैं।

४. लृवर्णस्य दीर्घा न सन्ति।

लृवर्णस्य-ष०ए०। दीर्घाः-प्र०ब०। न-अ०प०। सन्ति-क्रि०प०। **समासः**—आ चासौ वर्णश्चेति लृवर्णः-कर्मधारयतत्पुरुषः। **अर्थः**—(लृवर्णस्य) लृकारस्य (दीर्घाः) उदात्तादिभेदोपभेदभूता दीर्घवर्णाः (न) नहि (सन्ति) वर्तन्ते।

भाषार्थ—(लृवर्णस्य) लृकार के (दीर्घाः) दीर्घ वर्ण (न) नहीं (सन्ति) होते हैं।

विशेष—''लृवर्ण के दीर्घ नहीं होते हैं'' का तात्पर्य निरनुनासिक उदात्त दीर्घ लृवर्ण, सानुनासिक उदात्त दीर्घ लृवर्ण, वैसे ही निरनु० अनुदात्त दीर्घ लृवर्ण, सानु० अनुदात्त दीर्घ लृवर्ण, निरनु० स्वरित दीर्घ लृवर्ण, और सानु० स्वरित दीर्घ लृवर्ण, ये छह लृवर्ण नहीं होते हैं। अवशिष्ट लृवर्ण कितने हैं? यह अग्रिम सूत्र से कहते हैं—

५. तं द्वादशप्रभेदमाचक्षते।

तम्-द्वि०ए०। द्वादशप्रभेदम्-द्वि०ए०। आचक्षते-क्रि०प०। **समासः**— द्वादश प्रभेदाः सन्ति यस्य स द्वादशप्रभेदः, तं द्वादशप्रभेदम्-बहुव्रीहिः। **अर्थः**—(तम्) तम् अदीर्घकम् लृवर्णम् (द्वादशप्रभेदम्) द्वादशविधम् (आचक्षते) वदन्ति।

भाषार्थ—(तम्) दीर्घरहित उस लृवर्ण को (द्वादशप्रभेदम्) बारह प्रकार वाला (आचक्षते) कहते हैं।

६. यदृच्छाशब्देऽशक्तिजानुकरणे वा यदा दीर्घाः स्युस्तदाष्टा-दशप्रभेदं ब्रुवते क्लृपक इति।

यदृच्छाशब्दे-स०ए०। अशक्तिजानुकरणे-स०ए०। वा-अ०प०। यदा-अ०प०। दीर्घाः-प्र०ए०। स्युः-क्रि०प०। तदा-अ०प०। अष्टादशप्रभेदम्-द्वि०ए०। ब्रुवते-क्रि०प०। क्लृपकः-प्र०ए०। इति-अ०प०। ऋच्छनम् इति ऋच्छा- 'गुरोश्च हलः' (अष्टा० ३.३.१०३) इति 'ऋच्छ गतीन्द्रिय-प्रलयमूर्त्तिभावेषु' (तु० १५) धातोः अप्रत्ययः, ततष्टाप् (अष्टा० ४.१.४)। **समासः**—या चासौ ऋच्छा चेति यदृच्छा-विशेषणतत्पुरुषः [कर्मधारयः] (अष्टा० २.१.५६)। यदृच्छया स्वेच्छया उत्पन्नः शब्द इति यदृच्छाशब्दः, तस्मिन् यदृच्छाशब्दे, तृतीया-तत्पुरुषः। न शक्तिरित्यशक्तिः-(साधुशब्दोच्चारणशक्तेरन्या शक्तिः) नञ्तत्पुरुषः। अशक्तेर्जातः इत्यशक्तिजः- उपपदसमासः। अशक्तिजस्य अनुकरणम् अशक्ति-जानुकरणम्, तस्मिन् अशक्तिजानुकरणे-षष्ठीतत्पुरुषः। अष्टादश प्रभेदा विद्यन्ते यस्य स अष्टादशप्रभेदः, तम् अष्टादशप्रभेदम्- बहुव्रीहिः।

अर्थः—(यदृच्छाशब्दे) स्वेच्छयोत्पन्ने शब्दे (वा) अथवा (अशक्ति-जानुकरणे) असामर्थ्यवशाद् जातानामुच्चारितानां शब्दानामनुकरणे (यदा) यदा (दीर्घाः) दीर्घलृवर्णाः (स्युः) भवेयुः (तदा) तदानीम् (अष्टादशप्रभेदम्) लृवर्णम् अष्टादशप्रभेदकम् (ब्रुवते) कथयन्ति। यथा-क्लृपक इति।

भाषार्थ—(यदृच्छाशब्दे) स्वेच्छा से, विना प्रवृत्ति निमित्त के उत्पन्न शब्द में (वा) अथवा (अशक्तिजानुकरणे) असामर्थ्यवशाद् उत्पन्न व उच्चरित शब्दों के अनुकरणात्मक शब्दों में (यदा) जब (दीर्घाः) दीर्घवर्ण

(स्युः) होगें (तदा) तब (अष्टादशप्रभेदम्) लृवर्ण अठारह प्रकार का होता है, ऐसा आचार्य (ब्रुवते) कहते हैं। जैसे कि—क्लृपक है।

७. सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्ति।

सन्ध्यक्षराणाम्-ष०ब०। ह्रस्वाः-प्र०ब०। न-अ०प०। सन्ति-क्रि०प०। **अर्थः**—(सन्ध्यक्षराणाम्) ए-ऐ-ओ-औ इत्येतेषां सन्ध्यक्षरसंज्ञकानां वर्णानाम् (ह्रस्वाः) ह्रस्वसंज्ञकाः वर्णाः (न) नहि (सन्ति) भवन्ति। एतेषां दीर्घप्लुता एव भवन्तीति यावत्।

भाषार्थ—(सन्ध्यक्षराणाम्) ए, ऐ, ओ, औ इन सन्ध्यक्षर संज्ञक वर्णों के (ह्रस्वाः) ह्रस्व संज्ञक वर्ण (न) नहीं (सन्ति) होते हैं। अर्थात् इनके केवल दीर्घ और प्लुत वर्ण ही होते हैं।

८. तान्यपि द्वादशप्रभेदानि।

तानि-प्र०ब०। अपि-अ०प०। द्वादशप्रभेदानि-प्र०ब०। **समासः**—द्वादश प्रभेदाः सन्ति येषां तानि द्वादशप्रभेदानि-बहुव्रीहिः। **अर्थः**—लृवर्णवत् (तानि) सन्ध्यक्षराणि (अपि) च (द्वादशप्रभेदानि) द्वादश-प्रकाराणि भवन्ति।

भाषार्थ—लृवर्ण के समान ही (तानि) वे उक्त सन्ध्यक्षर (अपि) भी (द्वादशप्रभेदानि) बारह प्रकार के होते हैं।

९. छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकारं [च] पठन्ति।

छन्दोगानाम्-ष०ब०। सात्यमुग्रिराणायनीयाः-प्र०ब०। अर्धम्-द्वि०ए०। एकारम्-द्वि०ए०। अधर्म्-द्वि०ए०। ओकारम्-द्वि०ए०। [च-अ०प०]। पठन्ति-क्रि०प०। **समासः**—छन्दांसि गायन्तीति छन्दोगाः-उपपदतत्पुरुषः। सात्यमुग्रयश्चामी राणायनीयाश्चेति सात्यमुग्रिराणायनीयाः-कर्मधारयः। **अर्थः**—(छन्दोगानाम्) सामगानां मध्ये (सात्यमुग्रि-राणायनीयाः) सात्यमुग्रिराणायनीयसामशाखाया अध्येतारः (अर्धम् एकारम्) ह्रस्वम् एकारम् (अर्धम् ओकारं च) ह्रस्वमोकारञ्च (पठन्ति) अधीयते।

भाषार्थ—(छन्दोगानाम्) सामवेदियों में जो (सात्यमुग्रिराणा-यनीयाः) राणायनीय चरण की सात्यमुग्रिशाखा वाले हैं, वे (अर्धम्

एकारम्) ह्रस्व एकार एवं (अर्धम्-ओकारम् च) ह्रस्व ओकार को भी (पठन्ति) पढ़ते हैं अर्थात् वे मानते हैं।

१०.तेषामप्यष्टादशप्रभेदानि।

तेषाम्-ष०ब०। अपि-अ०प०। अष्टादशप्रभेदानि-प्र०ब०। **समासः**— अष्टादश प्रभेदाः सन्ति येषां तानि अष्टादशप्रभेदानि-बहुव्रीहिः। तान्यपि० (६.८) इत्यतः मण्डूकगत्या 'तानि' इत्यनुवर्तते। **अर्थः**— (तेषाम्) सात्यमुग्रिराणायनीयानां मते (तानि) सन्ध्यक्षराणि (अपि) अपि अवर्णादिवद् (अष्टादशप्रभेदानि) अष्टादशप्रकारकाणि भवन्ति।

भाषार्थ—(तेषाम्) राणायनीय चरण के सात्यमुग्रि शाखा वालों के मत में (तानि) वे सन्ध्यक्षर (अपि) भी अवर्णादि के तुल्य (अष्टादशप्रभेदानि) अठारह प्रकार के होते हैं।

११.अन्तस्था द्विप्रभेदा रेफवर्जिताः सानुनासिका निरनुनासिकाश्च।

अन्तस्थाः-प्र०ब०। द्विप्रभेदाः-प्र०ब०। रेफवर्जिताः-प्र०ब०। सानुनासिकाः-प्र०ब०। निरनुनासिका-प्र०ब०। च-अ०प०। **समासः**— द्वौ प्रभेदौ स्तः येषां ते द्विप्रभेदाः-बहुव्रीहिः। रेफो वर्जितो येषु ते रेफवर्जिताः-बहुव्रीहिः। अनुनासिकेन सह विद्यन्त इति सानुनासिकाः-बहुव्रीहिः। अनुनासिकात् निष्क्रान्ताः अनुनासिकस्याभावो येषु वा इति निरनुनासिकाः-प्रादिः समासो बहुव्रीहिर्वा। **अर्थः**— (रेफवर्जिताः) र-वर्ण-विरहाः (अन्तस्थाः) अन्तस्थसंज्ञका य-ल-वाः (सानुनासिकाः) अनुनासिकसहिताः (निरनुनासिकाः) अनुनासिकरहिताः (च) च, इति (द्विप्रभेदाः) द्विविधा इति ज्ञेयाः।

भाषार्थ—(रेफवर्जिताः) र-वर्ण को छोड़कर अवशिष्ट (अन्तस्थाः) अन्तस्थ संज्ञक य्, ल्, व् वर्ण (सानुनासिकाः) अनुनासिक और (निरनुनासिकाः) अननुनासिक भेद से (द्विप्रभेदाः) दो प्रकार के हैं। अर्थात् य्-यँ, ल्-लँ, व्-वँ इस प्रकार प्रत्येक के दो-दो भेद हैं।

१२.रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति।

रेफोष्मणाम्-ष०ब०। सवर्णाः-प्र०ब०। न-अ०प०। सन्ति-क्रि०प०।

समासः- रेफश्च ऊष्माणश्चेति रेफोष्माणः, तेषां रेफोष्मणाम् - इतरेतरयोगद्वन्द्वः। समानाः वर्णाः सवर्णाः, समानजातीया वा वर्णाः सवर्णाः। **अर्थः**- (रेफोष्मणाम्) रेफस्य ऊष्मसंज्ञकानां श-ष-स-हानां च (सवर्णाः) सवर्णाः (न) नहि (सन्ति) विद्यन्ते।

भाषार्थ—(रेफोष्मणाम्) रेफ और ऊष्म संज्ञक श्, ष्, स्, ह् वर्णों के (सवर्णाः) सवर्ण (न) नहीं (सन्ति) होते हैं।

१३.वर्ग्यो वर्ग्येण सवर्णाः।

वर्ग्यः-प्र०ए०। वर्ग्येण-तृ०ए०। सवर्णः-प्र०ए०। वर्गे भवो वर्ग्यः भवार्थे 'दिगादिभ्यो यत्' (अष्टा० ४.३.५४) इति यत्प्रत्ययः। **अर्थः**- (वर्ग्यः) कु चु टु तु पु इत्येवमादिषु वर्गेषु विद्यमानाः वर्णाः (वर्ग्येण) स्व-स्व-वर्गस्थैर्वर्णैः सह (सवर्णाः) सवर्णा भवन्ति।

भाषार्थ—(वर्ग्यः) कु चु टु तु पु इन वर्गों में विद्यमान वर्ण (वर्ग्येण) अपने-अपने वर्गों में विद्यमान वर्णों के साथ (सवर्णाः) सवर्ण होते हैं।

॥ इति षष्ठं वृत्तिकारप्रकरणम्॥

७. अथ सप्तमं क्रमप्रकरणम्

अभी तक वर्णों के स्थान, करण आदि धर्म बताये गये हैं। पर वर्णों का क्रम नहीं बताया गया कि वर्णों का क्रम क्या हो? अतः अब क्रम अर्थात् वर्णों का विशिष्ट क्रम विषयक प्रकरण प्रारम्भ करते हैं-

अथातो वर्णसमाम्नायं व्याख्यास्यामः॥ १॥

तत्र स्वराः प्रथमम्॥ २॥

अ इति आ इति आ३ इति इ इति ई इति ई३ इति उ इति ऊ इति ऊ३ति ऋ इति ॠ इति ऋ ३ इति ऌ इति ऌ३ इति॥३॥

अथ सन्ध्यक्षराणि॥ ४॥

ए इति ए३ इति ऐ इति ऐ३ इति ओ इति ओ३ इति औ इति औ३ इति॥ ५॥

इति स्वराः॥ ६॥

अथ व्यञ्जनानि॥ ७॥

किति खिति गिति घिति ङिति कवर्गः॥ ८॥

चिति छिति जिति झिति ञिति चवर्गः॥ ९॥

टिति ठिति डिति ढिति णिति टवर्गः॥ १०॥

तिति थिति दिति धिति निति तवर्गः॥ ११॥

पिति फिति बिति भिति मिति पवर्गः॥ १२॥

इति स्पर्शाः॥ १३॥

अथान्तस्थाः॥ १४॥

यिति रिति लिति विति॥ १५॥

अथोष्माणः॥ १६॥

शिति षिति सिति हिति॥ १७॥

अथायोगवाहाः॥ १८॥

अः इति विसर्जनीयः॥ २२॥

ᳫ कः इति जिह्वामूलीयः॥ १९॥

ᳫ पः इत्युपध्मानीयः॥ २०॥

अं इत्यनुस्वारः॥ २१॥

हुँ इति नासिक्यः॥ २३॥

कुँ खुँ गुँ घुँ इति यमाः॥ २४॥

[इति व्यञ्जनानि] —यजुःप्राति० ८.१-२४।

१. एष क्रमो वर्णानाम्।

एषः-प्र०ए०। क्रमः-प्र०ए०। वर्णानाम्-ष०ब०। **अर्थः**—(वर्णानाम्) अकारादिवर्णानाम् (एषः) एष उपरितनः (क्रमः) वैज्ञानिकः अनुक्रमो विज्ञायेत।

भाषार्थ—(वर्णानाम्) अकारादि वर्णों का (एषः) यह अर्थात् ऊपर कथित वैज्ञानिक (क्रमः) क्रम जानें।

विशेष—'एष क्रमः' शब्दों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यहाँ वर्णों का क्रम उपदिष्ट था। जिसका पाठ लुप्त हो गया है। अतः हमने वाजसनेयप्रातिशाख्य (शुक्लयजुःप्रातिशाख्य) से वर्णक्रम लेकर यहाँ संगृहीत किया है। ऋक्तन्त्र (१.२) में भी वर्णों का क्रम उपदिष्ट है। वा०प्रा० में दीर्घ ऌवर्ण भी उपदिष्ट है, पर यह पाणिनि को अनभीष्ट होने से छोड़ दिया है।

पाणिनीय शिक्षासूत्र के लघुपाठ में '**एष क्रमो वर्णानाम्**' इस प्रकृत सूत्र के पश्चात् कौशिकीय श्लोक उपलब्ध होते हैं। जो कि यहाँ भी अपेक्षित एवम् आवश्यक होने से संगृहीत किये जा रहे हैं।

तथैते कौशिकीयाः श्लोकाः—

सर्वान्तेऽयोगवाहत्वाद् विसर्गादिरिहाष्टकः।
अकार उच्चारणार्थो व्यञ्जनेष्वनुबध्यते॥ १॥

ᳫ कᳫ पयोः कपकारौ च तद्वर्गीयाश्रयत्वतः।
पलिक्क्नी चक्खूँनतुर्जग्गिँमर्जग्घ्नुरित्यत्र यद्वपुः॥ २॥

नासिक्येनोक्तं कादीनां त इमे यमाः।
तेषामुकारः सस्थानवर्गीयलक्षकः॥ ३॥

(इह) यहाँ अर्थात् (सर्वान्ते) सभी वर्णों के उपदिष्ट होने के उपरान्त अन्त में (विसर्गादिः अष्टकः) विसर्गादि आठ वर्णों का उपदेश किया जा रहा है। इन विसर्गादि वर्णों का उपदेश पूर्व वर्णों के साथ न कर, पृथक्रूप से क्यों किया जा रहा है? इनका पृथक् उपदेश इसलिये किया जा रहा है कि ये वर्ण (अयोगवाहत्वाद्) प्रसिद्ध शास्त्रीय वर्णसमाम्नाय से बहिर्भूत हैं अर्थात् प्रसिद्ध वर्णसमाम्नाय से ये अयुक्त हैं, असम्बद्ध हैं। जब ये वर्णसमाम्नाय से बहिर्भूत हैं, तो इनका उपदेश ही क्यों किया जा रहा है? इनका प्रयोजन ही क्या है? वर्णसमाम्नाय में अनुपदिष्ट [अयुक्त] होते हुये भी इनका उपदेश इसलिये आवश्यक है कि ये वर्ण अनुपदिष्ट होते हुये भी व्याकरणशास्त्रीय कार्यों का वहन करते हैं। इसीलिये इनका नाम अयोगवाह है। वे अयोगवाह कौन-कौन से हैं? यह वर्णक्रम में बता चुके हैं।

क, ख आदि व्यञ्जनों में अकार का उपदेश किसलिये है? इसका उत्तर देते हैं- (व्यञ्जनेषु) क, ख आदि व्यञ्जनों में (अकारः) अकार (उच्चारणार्थः) उच्चारण के सौकर्यार्थ (अनुबध्यते) लगा दिया जाता है, उपदेश किया जाता है। यहाँ अकार का कथन उपलक्षणमात्र है, अतः कादि में 'इति' आदि का संयोजन भी उच्चारणार्थ जानना चाहिये।

ᳫ क, ᳫ प में जिह्वामूलीय एवम् उपध्मानीय संज्ञीभूत चिह्नों (ᳫ) से भिन्न क, प वर्ण क्यों लिखे जाते हैं? इसका समाधान दिया गया है कि—जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय का विधान उन वर्णों के परे रहते किया गया है—'**कुप्वोः ᳫक ᳫपौ च**' (अष्टा० ८.३.३७)। अतः आश्रयभूत वर्ण के प्रदर्शनार्थ क, प वर्ण लिखे जाते हैं।

प्रश्न—यम किसे कहते हैं और इनका स्वरूप क्या है?

उत्तर—पलिक्क्नी, चक्खुंनतुः, जग्गिंमः, जग्ग्निुः इन शब्दों में जो (कादीनाम्) क्-कुँ, ख्-खुँ, ग्-गुँ, घ्-घुँ वर्ण हैं, उनमें (नासिक्येन) नासिक्य ध्वन्यात्मक (यद् वपुः) जो स्वरूप व वर्ण (उक्तम्) कहा गया (उच्चारित) है (ते, इमे, यमाः) वे ही यम कहाते हैं। और उन्हें कुँ, खुँ, गुँ, घुँ के रूप में लिखा जाता है।

प्रश्न—इनमें जो उकार है, वह किस प्रयोजन से है?

उत्तर—इनमें लगा हुआ उकार अपने-अपने समान वर्गीय यमों का लक्षक, बोधक है। अर्थात् कुँ से प्रथम यम के सभी व्यक्ति गृहीत होते हैं। जैसे—

कुँ— कुँ, चुँ, टुँ तुँ पुँ
खुँ— खुँ छुँ ठुँ थुँ फुँ
गुँ— गुँ जुँ डुँ दुँ बुँ
घुँ— घुँ झुँ ढुँ धुँ भुँ

यहाँ वर्गशब्द का अर्थ कवर्ग (क्, ख्, ग्, घ्, ङ्) आदि नहीं है अपितु प्रथम यमों का वर्ग, द्वितीय यमों का वर्ग, तृतीय यमों का वर्ग, और चतुर्थ यमों का वर्ग हैं। यमों का विशेष विवेचन प्रथम परिशिष्ट में देखें।

वर्णों के स्थान, करण, उभयविध यत्न, वायु-प्रपीडन आदि बतलाने के पश्चात् वर्णों को बताने की आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि वर्णों के ज्ञात होने पर ही उनका स्थान आदि बतलाना सम्भव है। अतः ज्ञात वर्णों के वर्णन का कहाँ तक औचित्य है? यहाँ यह प्रश्न उदित होना स्वाभाविक है। अतः यहाँ यह ध्यातव्य है कि अ, आ, इ, ई आदि वर्णों एवं कवर्ग आदि का जो क्रम विशेष है, उसका कोई नियम है वा नहीं? उस विशिष्ट क्रम का आधार क्या है? इन जिज्ञासाओं के समाधान हेतु तथा उस प्रसिद्ध वर्णमाला के क्रम विषयक वैज्ञानिकता के बोध के लिए ही आचार्य ने यहाँ स्थानादि बतलाने के पश्चात् भी वर्णक्रम का उपदेश किया है, न कि वर्णबोध के लिए। अतः यहाँ वर्णक्रम की विशेषता को अवश्य ही समझें और समझावें। हमने '**शेषाः स्वस्थानकरणाः**' (२.८) की विशेष व्यख्या के अन्त में इस क्रम-विशेषता को संक्षेप से बतला दिया है।

२. तत्रैषां स्थानकरणप्रयत्नानां कथं प्रसिद्धिरित्युच्यते।

तत्र-अ०प०। एषाम्-ष०ब०। स्थानकरणप्रयत्नानाम्-ष०ब०। कथम्-अ०प०। प्रसिद्धिः-प्र०ए०। इति-अ०प०। उच्यते-क्रि०प०। **समासः**—स्थानञ्च करणञ्च प्रयत्नश्चेति स्थानकरणप्रयत्नाः, तेषां स्थानकरणप्रयत्नानाम्-इतरेतरयोगद्वन्द्वः। **अर्थः**—(तत्र) प्रदर्शिते वर्णक्रमे

(एषाम्) विद्यमानानामेषां वर्णानाम् (स्थानकरणप्रयत्नानाम्) स्थान-करण-प्रयत्नानाम् (प्रसिद्धिः) व्युत्पत्तिः (कथम्) कथं भवति (इति) इति (उच्यते) कथ्यते।

भाषार्थ—(तत्र) ऊपर प्रदर्शित वर्णक्रम में (एषाम्) विद्यमान इन वर्णों के (स्थानकरणप्रयत्नानाम्) स्थान, करण तथा प्रयत्नों की (प्रसिद्धिः)-सिद्धि, व्युत्पत्ति (कथम्) कैसी होती है (इति उच्यते) उसे आगे कहते हैं।

३. इह यत्र स्थाने वर्णा उपलभ्यन्ते तत् स्थानम्।

इह-अ०प०। यत्र-अ०प०। स्थाने-स०ए०। वर्णाः-प्र०ब०। उपलभ्यन्ते-क्रि०प०। तत्-प्र०ए०। स्थानम्-प्र०ए०। 'इत्युच्यते' इत्यनुवर्तते। **अर्थः**—(इह) एषु त्रिषु स्थानं तावद् उच्यते (यत्र) यस्मिन् मुखाद्यवयवभूते (स्थाने) वर्णोत्पत्त्यधिकरणे (वर्णाः) अकारादयो वर्णाः (उपलभ्यन्ते) प्राप्यन्ते, श्रूयन्ते (तत्) तत् (स्थानम्) स्थानम् इत्युच्यते।

भाषार्थ—(इह) इन तीनों में से पहले स्थान की प्रसिद्धि कहते हैं, (यत्र) जिस मुख और नासिका के अवयवभूत (स्थाने) स्थान में (वर्णाः) अकारादि वर्ण (उपलभ्यन्ते) प्राप्त होते हैं, सुने जाते हैं (तत्) वह (स्थानम्) स्थान (इत्युच्यते) कहा जाता है।

४. येन निर्वृत्यन्ते तत् करणम्।

येन-तृ०ए०। निर्वृत्यन्ते-क्रि०प०। तत्-प्र०ए०। करणम्-प्र०ए०। 'वर्णाः, इत्युच्यते' इत्यनुवर्तते। **अर्थः**—(येन) येन साधनभूतावयवेन (वर्णाः) वर्णाः (निर्वृत्यन्ते) क्रियन्ते=उत्पद्यन्ते, उत्पाद्यन्ते वा (तत्) तत् साधनम् (करणम्) करणम् (इत्युच्यते) इति कीर्त्यते।

भाषार्थ—(येन) जिस साधनभूत अवयव से (वर्णाः) वर्ण (निर्वृत्यन्ते) उत्पन्न होते हैं अथवा उत्पन्न किये जाते हैं (तत्) वह साधन (करणम्) करण (इत्युच्यते) कहलाता है।

५. प्रयतनं प्रयत्नः।

प्रयतनम्-प्र०ए०। प्रयत्नः-प्र०ए०। **समासः**—प्रकृष्टं यतनमिति प्रयतनम्। प्रकृष्टो यत्न इति प्रयत्नः-उभयत्र प्रादिसमासः। 'इत्युच्यते'

इत्यनुवर्तते। **अर्थः**—(प्रयतनम्) प्रकृष्टं यतनम्, वर्णानामुच्चारणयोग्य उद्योगः (प्रयत्नः) प्रयत्नः (इच्युच्यते) इति कथ्यते।

भाषार्थ—(प्रयतनम्) प्रकृष्ट यतन अर्थात् वर्णोच्चारण के योग्य उद्योग (प्रयत्नः) प्रयत्न (इत्युच्यते) कहलाता है।

६. उत्साहः प्रयत्नः।

उत्साहः-प्र०ए०। प्रयत्नः-प्र०ए०। 'इत्युच्यते' इत्यनुवर्तते। **अर्थः**-(उत्साहः) प्रयासः विवक्षा वा (प्रयत्नः) प्रयत्नः (इत्युच्यते) इत्यभिधीयते।

भाषार्थ—(उत्साहः) प्रयास, विवक्षा ही (प्रयत्नः) प्रयत्न (इत्युच्यते) कहलाता है।

७. स्पृष्टतादि वर्णगुणः।

स्पृष्टतादि-प्र०ए०। वर्णगुणः-प्र०ए०। **समासः**-स्पृष्टता आदिः यस्य [समुदायस्य] तत् स्पृष्टतादि-बहुव्रीहिः। वर्णस्य गुणः-वर्णगुणः-षष्ठीतत्पुरुषः। **अर्थः**- (स्पृष्टतादि) स्पृष्टतेषत्स्पृष्टतादिप्रयतनम् (वर्णगुणः) वर्णस्य गुणः।

भाषार्थ—(स्पृष्टतादि) स्पृष्टता, ईषत्स्पृष्टता आदि प्रयतन (वर्ण-गुणः) वर्ण के गुण हैं।

॥ इति सप्तमं क्रमप्रकरणम् ॥

८. अथाष्टमं नाभितलप्रकरणम्

शिक्षा-भूमिका के तृतीय श्लोक में प्रतिज्ञात प्रकरणों में से अब अन्तिम 'नाभितलप्रकरण' प्रारम्भ किया जाता है।

१. तत्र नाभिप्रदेशात् प्रयत्नप्रेरितः प्राणो नाम वायुरूर्ध्वमाक्रामन्नुरआदीनां स्थानानामन्यतमस्मिन् स्थाने प्रयत्नेन विधार्यते। विधार्यमाणः सोऽपि तत्स्थानानि विहन्ति। तस्मात् स्थानाभिघाताद् ध्वनिरुत्पद्यत आकाशे, सा वर्णश्रुतिः। स वर्णस्यात्मलाभः।

अर्थः—(तत्र) वर्णोत्पादने यत्न एवं भवति-(प्रयत्नप्रेरितः) 'आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्०' इति श्लोकोक्तरीत्या आत्मनः प्रयत्नेन प्रेरितः (प्राणः) उच्छ्वासात्मकः प्राणः (नाम) संज्ञकः (वायुः) अनिलः (नाभिप्रदेशात्) नाभिप्रदेशतः (ऊर्ध्वम्) उपरि (आक्रामन्) उद्गच्छन् (उरआदीनां स्थानानाम्) उरः कण्ठ आदीनां स्थानानां मध्ये (अन्यतमस्मिन्) कस्मिंश्चिदेकस्मिन्नीप्सिते (स्थाने) कण्ठाद्यवयवे (प्रयत्नेन) यत्नेन (विधार्यते) धारितो भवति, अवरुद्धो भवति। (सः अपि) स एव (विधार्यमाणः) धारितो वायुः (तत्स्थानानि) तानि स्थानानि (विहन्ति) अभिपीडयति। (तस्मात्) तेन (स्थानाभिघाताद्) स्थानाभिघातेन, स्थानपीडनेन (अकाशे) मुखाकाशे (ध्वनिः) शब्दः (उत्पद्यते) जायते, तस्मिन्नुत्पन्ने बाह्याकाशे या श्रुतिर्भवति [श्रूयते] (सा) सा (वर्णश्रुतिः) वर्णश्रुतिरुच्यते। (सः) स एव (वर्णस्य) श्रुतस्य वर्णस्य (आत्मलाभः) स्वरूपोपलब्धिः, वर्णत्वमापन्न इत्यर्थः।

भाषार्थ—(तत्र) वर्णोत्पादन में यत्न इस प्रकार होता है कि (प्रयत्नप्रेरितः) 'आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्०' इस श्लोक के अनुसार आत्मा के प्रयत्न से प्रेरित (प्राणः) उच्छ्वासात्मक प्राण (नाम) संज्ञक (वायुः) वायु (नाभिप्रदेशात्) नाभि देश से (ऊर्ध्वम्) ऊपर (आक्रामन्) उठता हुआ (उरःआदीनां स्थानानाम्) उरः, कण्ठ आदि स्थानों में से (अन्यतमस्मिन्) किसी एक अभीष्ट (स्थाने) कण्ठ आदि स्थानों में

(प्रयत्नेन) विशेष यत्न से (विधार्यते) रोका जाता है। (सःअपि) वही (विधार्यमाणः) अवरुद्ध वायु (तत्स्थानानि) उस-उस स्थान को (विहन्ति) पीडित करता है, आघात करता है, (तस्मात्) उस (स्थानाभिघाताद्) स्थानाघात से (आकाशे) मुखाकाश में (ध्वनिः) शब्द (उत्पद्यते) उत्पन्न होता है। उसके उत्पन्न होने पर जो बाह्याकाश में श्रुति होती है [अर्थात् श्रवण होता है], (सा) वह (वर्णश्रुतिः) वर्ण की श्रुति कहाती है। (सः) वह ही (वर्णस्य) श्रुतवर्ण की (आत्मलाभः) स्वरूपोपलब्धि है। अर्थात् वही वर्ण वा शब्द कहलाता है।

२. तत्र वर्णानामुत्पद्यमाने यदा स्थानकरणप्रयत्नपर्यन्तं परस्परं स्पृशति सा स्पृष्टता।

अर्थः—(तत्र) तस्याम् (वर्णानाम्) शब्दानाम् (उत्पद्यमाने) उत्पद्यमानतायाम् (यदा) यदा (स्थानकरणप्रयत्नपर्यन्तम्) प्रयत्नपुरस्सरेण स्थानकरणे (परस्परम्) मिथः (स्पृशति) स्पर्शं कुरुतः, तदा (सा) सा (स्पृष्टता) स्पृष्टतोच्यते।

भाषार्थ—(तत्र) उस (वर्णानाम्) वर्ण व शब्दों की (उत्पद्यमाने) उत्पद्यमानता में (यदा) जब (स्थानकरणप्रयत्नपर्यन्तम्) प्रयत्न के साथ-साथ स्थान और करण (परस्परम्) परस्पर एक दूसरे का (स्पृशति) स्पर्श करते हैं, तब (सा) वह (स्पृष्टता) स्पृष्टता कहलाती है।

३. यदेषत् स्पृशति सा ईषत्स्पृष्टता।

अर्थः—(यदा) यदा करणमभीष्टस्थानस्य (ईषत्) किञ्चिद्, स्वल्पम् (स्पृशति) स्पर्शं करोति, तदा (सा) सा (ईषत्स्पृष्टता) ईषत्स्पृष्टता कथ्यते।

भाषार्थ—(यदा) जब करण अभीष्ट स्थान का (ईषत्) थोड़ा ही (स्पृशति) स्पर्श करता है, तब (सा) वह (ईषत्स्पृष्टता) ईषत्स्पृष्टता कही जाती है।

४. यदा दूरेण स्पृशति सा विवृतता।

अर्थः—(यदा) यदा करणं स्थानस्य (दूरेण) दूरतः (स्पृशति) स्वर-सीमनि स्पर्शनं विदधाति, तदा (सा) आभ्यन्तरचेष्टा (विवृतता)

विवृतताभिधीयते।

भाषार्थ—(यदा) जब करण स्थान का (दूरेण) दूर से (स्पृशति) स्वर सीमा में स्पर्श करता है, तब (सा) वह आभ्यन्तर चेष्टा (विवृतता) विवृतता कही जाती है।

५. यदा सामीप्येन स्पृशति सा संवृतता।

अर्थः—स्थाने करणं (यदा) यदा (सामीप्येन) अदूरतः स्वरसीमनि (स्पृशति) संस्पृशति, तदा (सा) सा प्रयत्नता (संवृतता) संवृततेति निगद्यते।

भाषार्थ—स्थान में करण (यदा) जब (सामीप्येन) सन्निकटता से स्वर सीम में (स्पृशति) स्पर्श करता है, तब (सा) वह प्रयत्नता (संवृतता) संवृतता कही जाती है।

६. एषोऽन्तः प्रयत्नः।

अर्थः—(एषः) अनुपदमेव वर्णित एष (अन्तःप्रयत्नः) अन्तःप्रयत्नो-विषयः समाप्तः।

भाषार्थ—(एषः) यह (अन्तःप्रयत्नः) अन्तःप्रयत्न विषय समाप्त हुआ है।

७. अथ बाह्यः प्रयत्नः।

अर्थः—(अथ) अन्तःप्रयत्नानन्तरं (बाह्यः प्रयत्नः) बाह्ययत्नः प्रारभ्यते।

भाषार्थ—(अथ) अन्तःप्रयत्न के निरूपण के पश्चात् अब (बाह्यः प्रयत्नः) बाह्ययत्न प्रारम्भ किया जाता है।

८. स एवेदानीं प्राणो नाम वायुरूर्ध्वमाक्रम्य मूर्ध्नि प्रतिहते निवृत्तो भवति, तदा कण्ठे संहन्यमाने गलबिलस्य संवृतत्वात् संवारो नाम वर्णधर्मो जायते, विवृतत्वाद् विवारः।

अर्थः—(इदानीम्) सम्प्रति (स एव) आत्मनः प्रयत्नेन प्रेरितः स एव (प्राणो नाम) प्राणसंज्ञकः (वायुः) वायुः (ऊर्ध्वम्) उपरि (आक्रम्य)

उद्गम्य (मूर्ध्नि) बाह्ययत्नक्षेत्रीयोर्ध्वभागे, स्वरतन्त्रीद्वय इति यावत् (प्रतिहते) प्रतिघाते सति (निवृत्तः) पृष्ठतो निवृत्तो भवति। (तदा) तदानीम् (कण्ठे) कण्ठे, गलबिले (संहन्यमाने) आघाते क्रियमाणे (गलबिलस्य) कण्ठबिलस्य, स्वरयन्त्रमुखस्य (संवृतत्वात्) आकुञ्चितत्वाद्, संकीर्णत्वाद् (संवारो नाम) संवारनामकः (वर्णधर्मः) वर्णगुणः (जायते) उत्पद्यते, कण्ठबिलस्य (विवृतत्वाद्) प्रसृतत्वाद्, विततत्वाद् (विवारः) विवारनामको वर्णधर्मो जायते।

भाषार्थ—(इदानीम्) अब (स एव) आत्मा के प्रयत्न से प्रेरित वही (प्राणो नाम) प्राण संज्ञक (वायुः) वायु (ऊर्ध्वम्) ऊपर (आक्रम्य) उठकर (मूर्ध्नि) बाह्ययत्न के क्षेत्रीय ऊर्ध्व [अन्तिम] भाग में विद्यमान स्वरतन्त्रियों में (प्रतिहते) प्रतिघात होने पर (निवृत्तः) निवृत्त अर्थात् पीछे की ओर लौट आता है। (तदा) तब (कण्ठे) गलबिल में (संहन्यमाने) आघात करने पर (गलबिलस्य) गलबिल के, स्वरयन्त्रमुख के (संवृतत्वात्) संवृत, संकुचित होने से (संवारो नाम) संवार नामक (वर्णधर्मः) वर्णधर्म (जायते) उत्पन्न होता है। कण्ठबिल के (विवृतत्वाद्) विवृत, विस्तृत होने से (विवारः) विवार नामक वर्ण-धर्म उत्पन्न होता है।

९. तौ संवारविवारौ।

अर्थः—(तौ) उक्तौ वर्णधर्मौ (संवारविवारौ) संवारसंज्ञको विवार-संज्ञकश्च बाह्ययत्नाविति वेदितव्यौ।

भाषार्थ—(तौ) वे दोनों वर्णधर्म (संवारविवारौ) संवार और विवार संज्ञक बाह्ययत्न हैं, ऐसा जानें।

१०.तत्र यदा कण्ठबिलं संवृतं तदा नादो जायते।

अर्थः—(तत्र) वायुना संहते कण्ठे (यदा) यदा (कण्ठबिलम्) स्वरयन्त्रमुखम् (संवृतम्) आकुञ्चितम्, संकीर्णं भवति (तदा) तदानीम् (नादः) नादः (जायते) उत्पद्यते।

भाषार्थ—(तत्र) वायु के द्वारा आहत कण्ठ में (यदा) जब (कण्ठबिलम्) स्वरयन्त्रमुख (संवृतम्) संकुचित, छोटा होता है, (तदा)

तब (नादः) नाद (जायते) उत्पन्न होता है।

११.विवृते तु कण्ठबिले श्वासोऽनुजायते।

अर्थः—(कण्ठबिले) स्वरयन्त्रमुखे (विवृते) विवृते जाते (श्वासः) श्वासः (अनुजायते) उत्पद्यते।

भाषार्थ—(कण्ठबिले) स्वरयन्त्रमुख के (विवृते) विस्तृत, बड़ा होने पर (श्वासः) श्वास (अनुजायते) उत्पन्न होता है।

१२.तौ श्वासनादावनुप्रदानावित्याचक्षते।

अर्थः—(तौ) तौ (श्वासनादौ) श्वासनादाख्यौ (अनुप्रदानौ) वर्णोत्पादकौ (इति) एवम् (आचक्षते) वदन्ति आचार्याः।

भाषार्थ—(तौ) वे दोनों (श्वासनादौ) श्वास और नाद (अनुप्रदानौ) वर्णोत्पादक हैं (इति) ऐसा (आचक्षते) आचार्य लोग कहते हैं।

१३.अन्ये श्वासनादानुप्रदानं व्यञ्जने नादवत्।

अर्थः—(व्यञ्जने) वर्णानामभिव्यञ्जने (श्वासनादानुप्रदानम्) श्वासानुप्रदानम्, नादानुप्रदानञ्च (नादवत्) नादध्वनिवद् भवतः (इति) एवम् (अन्ये) अन्ये आचार्याः (आचक्षते) ब्रुवते।

भाषार्थ—(व्यञ्जने) वर्णों के अभिव्यञ्जन में (श्वासनादानुप्रदानम्) श्वासानुप्रदान और नादानुप्रदान (नादवत्) नादध्वनि के समान या नादध्वनि वाले होते हैं (इति) ऐसा (अन्ये) दूसरे आचार्य (आचक्षते) कहते हैं।

१४.तत्र यदा स्थानाभिघातजध्वनौ नादोऽनुप्रदीयते तदा नादध्वनिसंसर्गाद् घोषो जायते।

अर्थः—(तत्र) तस्मिन् (स्थानाभिघातजध्वनौ) स्थानाभिघातेनोत्पन्ने ध्वनौ (यदा) यस्मिन् काले (नादः) नादध्वनिः (अनुप्रदीयते) उत्पत्स्यमानशब्दस्य प्रयोजको भवति (तदा) तदानीम् (नादध्वनिसंसर्गाद्) तन्नादध्वनिसम्बन्धाद् (घोषः) घण्टानिनादसमानध्वनिविशेषो घोषः (जायते) भवति।

भाषार्थ—(तत्र) उस (स्थानाभिघातजध्वनौ) स्थानाभिघात से उत्पन्न ध्वनि के होने पर (यदा) जब (नादः) नादध्वनि (अनुप्रदीयते) उत्पत्स्यमान शब्द का उत्पादक, जनक [कारण] होता है, (तदा) तब (नादध्वनिसंसर्गाद्) उस नादध्वनि के सम्बन्ध से (घोषः) घण्टा निनाद के समान श्रूयमाण ध्वनिविशेष (जायते) उत्पन्न होता है।

१५.यदा श्वासोऽनुप्रदीयते तदा श्वासध्वनिसंसर्गाद् अघोषो जायते।

अर्थः—(तत्र) तस्मिन् (स्थानाभिघातजध्वनौ) स्थानाभिघातेनोत्पन्ने ध्वनौ (यदा) यदा (श्वासः) श्वासः, प्राणनामकवायुप्रधानताकनादध्वनिः (अनुप्रदीयते) उत्पत्स्यमानशब्दस्य प्रयोजको भवति, (तदा) तदानीम् (श्वासध्वनिसंसर्गाद्) श्वासप्रधानताकनादध्वनिसंसर्गाद् (अघोषः) अघोषः, घोषत्वविरहध्वनिविशेषः (जायते) भवति।

भाषार्थ—(तत्र) उस (स्थानाभिघातजध्वनौ) स्थानाभिघात से उत्पन्न ध्वनि के होने पर (यदा) जब (श्वासः) श्वास, प्राण नामक वायु की प्रधानतावाली नादध्वनि (अनुप्रदीयते) उत्पन्न होने वाले शब्द का प्रयोजक होता है, (तदा) तब (श्वासध्वनिसंसर्गाद्) श्वास की प्रधानता [अधिकता] वाली नादध्वनि के सम्बन्ध से [अघोषः] अघोष अर्थात् घोषत्व रहित एक ध्वनिविशेष (जायते) उत्पन्न होता है।

१६.सा घोषवदघोषता।

अर्थः—(सा) सा (घोषवदघोषता) घोषवत्ता अघोषता च समाप्ता, वर्णितेति बोद्धव्यम्।

भाषार्थ—(सा) वह (घोषवदघोषता) घोषवत्ता और अघोषता समाप्त हुई है वा वर्णित हुई है।

१७.महति वायौ महाप्राणः।

अर्थः—वर्णोच्चारणे (महति) अधिके (वायौ) अनिले निःसृते, सः (महाप्राणः) महाप्राण इत्युच्यते। तद्वन्तश्च वर्णा महाप्राणाः कथ्यन्ते। महति वायौ उत्पन्नो वर्णः महाप्राण इति वार्थः।

भाषार्थ—वर्णों के उच्चारण में (महति) अधिक (वायौ) वायु के निकलने पर, वह (महाप्राणः) महाप्राण कहलाता है। और इस महाप्राण से युक्त [उच्चरित] वर्ण भी महाप्राण कहे जाते हैं। अथवा इसका अर्थ

इस प्रकार भी कर सकते हैं—महान् [अधिक] वायु में उत्पन्न वर्ण महाप्राण कहाता है।

१८.अल्पे वायावल्पप्राणः।

अर्थः—वर्णोच्चारणे (अल्पे) स्वल्पे (वायौ) अनिले निःसृते, सः (अल्पप्राणः) अल्पप्राण इत्यभिधीयते। तद्वन्तश्च वर्णा अल्पप्राणा भवन्ति। अल्पे वायौ उत्पन्नो वर्ण अल्पप्राण इति वा तस्यार्थः।

भाषार्थ—वर्णों के उच्चारण में (अल्पे) थोड़े (वायौ) वायु से निस्सृत होने पर, वह (अल्पप्राणः) अल्पप्राण कहा जाता है। उससे युक्त [उत्पन्न] वर्ण भी अल्पप्राण कहाता है। अथवा इस सूत्र का अर्थ ऐसा भी समझ सकते हैं-अल्पप्राण में उत्पन्न वर्ण अल्पप्राण संज्ञक होता है।

१९.साल्पप्राणमहाप्राणता।

अर्थः—(सा) असौ (अल्पप्राणमहाप्राणता) अल्पप्राणता महा-प्राणता च वर्णिता।

भाषार्थ—(सा) वह (अल्पप्राणमहाप्राणता) अल्पप्राणता और महाप्राणता बताई गई है।

२०.[यत्र] महाप्राणत्वम् ऊष्माणस्ते।

अर्थः—(यत्र) येषु वर्णेषु (महाप्राणत्वम्) महाप्राणता (ते) ते वर्णाः (ऊष्माणः) ऊष्माणो भवन्ति।

भाषार्थ—(यत्र) जिन वर्णों में (महाप्राणत्वम्) महाप्राणता है, (ते) वे वर्ण (ऊष्माणः) ऊष्म संज्ञक होते हैं।

२१.तत्र यदा सर्वाङ्गानुसारी प्रयत्नस्तीव्रो भवति, तदा गात्राणां निग्रहः, कण्ठबिलस्य चाल्पत्वं स्वरस्य च वायोस्तीव्र-गतित्वाद् रौक्ष्यं भवति। तमुदात्तमाचक्षते।

अर्थः—(तत्र) वर्णानामुच्चारणे (यदा) यदा (सर्वाङ्गानुसारी) सर्वेषामङ्गोपाङ्गानामनुसारी (प्रयत्नः) यत्नः (तीव्रः) अधिकः (भवति) सम्पद्यते, (तदा) तदानीम् (गात्राणाम्) शरीरावयवानाम् (निग्रहः) निरोधः, परितो बन्धनं भवति (कण्ठबिलस्य च) स्वरयन्त्रमुखस्य च (अल्पत्वम्) आयामो न्यूनीभवति, (च) तथा च (स्वरस्य) उच्चार्य-

माणस्वरवर्णस्य (वायोः) मारुतस्य (तीव्रगतित्वाद्) तीव्रगतिहेतोः स्वरे (रौक्ष्यम्) रूक्षता (भवति) जायते। (तम्) तादृशम् उच्चारितं वर्णम्, अचम् (उदात्तम्) उदात्तम् (आचक्षते) ब्रुवत आचार्याः।

भाषार्थ—(तत्र) वर्णों के उच्चारण में (यदा) जब (सर्वाङ्गानुसारी) सभी अङ्ग और उपाङ्गों का (प्रयत्नः) यत्न (तीव्रः) अधिक (भवति) होता है, (तदा) तब(गात्राणाम्) शरीरावयवों का (निग्रहः) निरोध हो जाता है, अर्थात् दब से जाते हैं यानी सम्पूर्ण शरीर सख्त हो जाता है (च) और (कण्ठबलिस्य) स्वरयन्त्रमुख का (अल्पत्वम्) विस्तार कम हो जाता है (च) तथा (स्वरस्य) उच्चार्यमाण स्वर वर्ण के (वायोः) वायु की (तीव्रगतित्वाद्) तीव्रगति होने के कारण स्वर में (रौक्ष्यम्) रूक्षता (भवति) होती है। (तम्) उस प्रकार से उच्चारित वर्ण को आचार्य (उदात्तम्) उदात्त (आचक्षते) कहते हैं।

२२.यदा मन्दः प्रयत्नो भवति तदा गात्राणां प्रसन्नत्वम्, कण्ठबिलस्य च महत्त्वम्, स्वरस्य च वायोर्मन्दगतित्वात् स्निग्धता भवति। तमनुदात्तमाचक्षते।

अर्थः—(तत्र) वर्णोच्चारणे (यदा) यदा (सर्वाङ्गानुसारी) सर्वेषामङ्गानामनुसारी (प्रयत्नः) यत्नः (मन्दः) अल्पः, न्यूनः (भवति) जायते, (तदा) तदानीम् (गात्राणाम्) शरीरावयवानाम् (प्रसन्नत्वम्) हर्षत्वम्, विकासता (कण्ठबलिस्य च) स्वरयन्त्रमुखस्य च (महत्त्वम्) आयामोऽधिको भवति, (च) तथा च (स्वरस्य) उच्चार्यमाणस्य स्वरस्य (वायोः) वायोः (मन्दगतित्वाद्) अल्पगतित्वाद् स्वरे (स्निग्धता) मार्दवम् (भवति) जायते। (तम्) तादृशम् उच्चारितं वर्णम् (अनुदात्तम्) अनुदात्तं (आचक्षते) वदन्ति आचार्याः।

भाषार्थः—(तत्र) वर्णोच्चारण में (यदा) जब (सर्वाङ्गानुसारी) सभी अङ्गों का (प्रयत्नः) यत्न (मन्दः) कम (भवति) होते हैं, (तदा) तब (गात्राणाम्) शरीरावयवों की (प्रसन्नत्वम्) हर्षता, विकासता होती है (च) और (कण्ठबिलस्य) स्वरयन्त्रमुख का (महत्त्वम्) विस्तार अधिक हो जाता है (च) और (स्वरस्य) उच्चार्यमाण स्वर वर्ण के (वायोः) वायु की (मन्दगतित्वाद्) मन्दगति होने से स्वर में (स्निग्धता)

मृदुता (भवति) होती है। (तम्) उस प्रकार उच्चरित वर्ण को आचार्य (अनुदात्तम्) अनुदात्त (आचक्षते) कहते हैं।

२३.उदात्तानुदात्तसन्निकर्षात् स्वरित इति।

अर्थः—(उदात्तानुदात्तसन्निकर्षात्) उदात्तस्यानुदात्तस्य च सम्बन्धात्, सम्मिश्रणात् (स्वरितः) स्वरितो जायत इत्याचार्या आचक्षते।

भाषार्थ—(उदात्तानुदात्तसन्निकर्षात्) उदात्त और अनुदात्त के सम्बन्ध से अर्थात् सम्मिश्रण से (स्वरितः) स्वरित उत्पन्न होता है, ऐसा आचार्य कहते हैं।

२४.स एवं प्रयत्नोऽभिनिर्वृत्तः कृत्स्नः प्रयत्नो भवति।

अर्थः—(एवम्) इत्थम् (सः) स उभयविधः (प्रयत्नः) अन्तोबाह्ययत्नः (कृत्स्नः) सम्पूर्णः (प्रयत्नः) यत्नः (भवति) सम्पद्यते। स च (अभिनिर्वृत्तः) सम्पन्नः, समापित इति यावत्।

भाषार्थः—(एवम्) इस प्रकार (सः) वह उभयविध (प्रयत्नः) अन्तः और बाह्य यत्न मिलकर (कृत्स्नः) सम्पूर्ण (प्रयत्नः) एक यत्न (भवति) होता है। और वह (अभिनिर्वृत्तः) सम्पन्न, समाप्त हो गया है।

२५.स एवमापिशलेः पञ्चदशभेदाख्या वर्णधर्मा भवन्ति।

अर्थः—(सः) स वर्णधर्मप्रतिपादक उभयविधप्रयत्नविषय आहत्य कतिविधो भवतीत्याकाङ्क्षामुत्थाप्य परिहरत्याचार्यः (एवम्) उक्तप्रकारेण (आपिशलेः) आपिशल्याचार्यस्य मते [अपि] (पञ्चदशभेदाख्याः) पञ्चदशभेदाः (वर्णधर्माः) वर्णधर्माः (भवन्ति) विद्यन्ते। आपिशलिग्रहणमिह पूजार्थम्, न तु मतप्रदर्शनार्थम्। पाणिनेरपीह तात्पर्यत्वात्।

भाषार्थ—(सः) वर्णधर्म के प्रतिपादक उभयविध प्रयत्न का वह विषय साकल्येन कितने प्रकार का है ? इस प्रकार की आकाङ्क्षा कर उसका परिहार करते हैं कि (एवम्) पूर्व के कथनानुसार (आपिशलेः) आपिशलि आचार्य के मत में [भी] (पञ्चदशभेदाख्याः) पन्द्रह प्रकार के (वर्णधर्माः) वर्णधर्म होते हैं। यहाँ आपिशलि का नाम ग्रहण पूजा के लिये है, न कि मतप्रदर्शन के लिए। क्योंकि इसमें पाणिनि का भी तात्पर्य निहित है।

ते च पञ्चदशभेदाः के इत्याकाङ्क्षामुपशमयितुं सूत्रयत्याचार्यः—

२६.तद्यथा—

स्पृष्टता ईषत्स्पृष्टता विवृतता संवृतता च।
संवारविवारौ श्वासनादौ घोषवदघोषता।
अल्पप्राणमहाप्राणता उदात्तानुदात्तस्वरिताः॥ इति॥

अर्थः—(तद्यथा) ते च वर्णधर्माः स्पृष्टता- ईषत्स्पृष्टता- विवृतता- संवृतता- भेदेन चत्वारोऽन्तः प्रयत्नाः। संवार- विवार- श्वास- नाद- घोष- अघोष- अल्पप्राण- महाप्राण- उदात्त- अनुदात्त- स्वरित- भेदेनैकादश बाह्ययत्नाः। आहत्य पञ्चदश भवन्ति।

भाषार्थ—(तद्यथा) वे वर्णधर्म इस प्रकार हैं—१. स्पृष्टता, २. ईषत्स्पृष्टता, ३. विवृतता, ४. संवृतता, ५. संवार, ६. विवार, ७. श्वास, ८. नाद, ९. घोष, १०. अघोष, ११. अल्पप्राण, १२. महाप्राण, १३. उदात्त, १४. अनुदात्त, १५. स्वरित। प्रारम्भिक चार अन्तःप्रयत्न हैं, शेष ग्यारह बाह्ययत्न हैं।

२७.इदानीं शिक्षाग्रन्थः श्लोकैरुपसंह्रियते—

अर्थः—(इदानीम्) सम्प्रति (शिक्षाग्रन्थः) अयं शिक्षाग्रन्थः (श्लोकैः) अग्रिमपद्यैः (उपसंह्रियते) समाप्यते—

भाषार्थ—(इदानीम्) अब (शिक्षाग्रन्थः) यह शिक्षाग्रन्थ (श्लोकैः) अग्रिम श्लोकों से (उपसंह्रियते) समाप्त किया जाता है—

२८.अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च॥

अर्थः—वर्णानाम् उद्भवस्थानानि अष्टौ सन्ति। ते च-उरः, कण्ठः, शिरः=मूर्धा जिह्वामूलम् (?), दन्ताः, नासिका, उपरितन ओष्ठः, तालु च।

भाषार्थ—वर्णों के उद्भव स्थान आठ हैं। वे इस प्रकार हैं- १. उरः, २. कण्ठ, ३. मूर्धा, ४. जिह्वामूल (?), ५. ऊपर के दाँत, ६. नासिका, ७. ऊपर का ओष्ठ, ८. तालु।

२९.स्पृष्टत्वमीषत्स्पृष्टत्वं संवृतत्वं तथैव च।
विवृतत्वं च वर्णानामन्तःकरणमुच्यते॥

अर्थः—स्पृष्टत्वम्, ईषत्स्पृष्टत्वम्, संवृतत्वम्, तथा च विवृतत्वम्, इत्येते वर्णानामन्तःकरणम्=आभ्यन्तरप्रयत्ना उच्यन्ते।

भाषार्थ—स्पृष्टत्व, ईषत्स्पृष्टत्व, संवृतत्व और विवृतत्व ये चार वर्णों के आभ्यन्तरप्रयत्न हैं।

३०.कालो विवारसंवारौ श्वासनादावघोषता।
घोषोऽल्पप्राणता चैव महाप्राणः स्वरास्त्रयः॥

३१.बाह्यं करणमाहुस्तान् वर्णानां वर्णवेदिनः॥

अर्थः—कालः, विवारः, संवारः, श्वासः, नादः, अघोषः, घोषः, अल्पप्राणः, महाप्राणः, उदात्त- अनुदात्त- स्वरिताश्च त्रयस्स्वरा इत्येतान् वर्णवेत्तार आचार्या वर्णानां बाह्यकरणान्याहुः।

भाषार्थ—काल, विवार, संवार, श्वास, नाद, अघोष, घोष, अल्पप्राण, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त और स्वरित इन सब को वर्णविज्ञानी आचार्यों ने वर्णों के बाह्ययत्न कहे हैं।

द्वयङ्काकाशयमाब्दे हि [१]शौर्पमासे सिते दले।
पञ्चमीभृगुवारेऽयं ग्रन्थः पूर्तिं समागतः॥ १॥
इषुद्योव्योमनेत्राब्दे ख्रैस्ते मासे हि पञ्चमे।
अग्नीन्दुशुक्रवारेऽयं ग्रन्थः पूर्तिं गतः शुभः॥ २॥

आन्ध्रदेशीयकरिनगरजनपदान्तर्गतभार्गवपुराभिजनेन
श्रीस्वराज्यलक्ष्मी-लक्ष्मीनारायणसूनुना
सर्वशास्त्रपारावारपारीणश्रीमद्विजयपालविद्यावारिधि
शिष्येण भारद्वाजगोत्रेण उदयनाचार्येण विरचितः
भगवत्पाणिनिमुनिप्रणीतशिक्षायाः
शिक्षाभावप्रकाशः
समाप्तिमगात्

१. 'विशाखं शूर्पमिन्द्राग्निं द्विदैवत्यं विशाखभम्' (मुहूर्त्तदीपिका-नक्षत्रनिघण्टुः)।

परिशिष्ट-१

यमानां स्वरूपं संख्या च[१]

शिक्षाशास्त्रे व्याकरणशास्त्रे च अयोगवाहानां यमानां च विषयो बहुत्र चर्चितोऽस्ति। यमानां संख्याविषये वैयाकरणानां शिक्षा- प्रातिशाख्य-ग्रन्थव्याख्यातृणां च न कश्चन निर्णीतः सिद्धान्तो विद्यते। यतोहि यमाश्चत्वार इति केचन विमन्यन्ते चेदपरे विंशतिरिति विवदन्ते। तथाहि उभयथापि उवटादीनां व्याख्यानेषु दृश्यते। यथा—"**यस्माद् यमा नासिका-स्थानाश्चत्वारः सन्तो विंशतिः स्थानिना सरूपा लक्ष्यन्ते**" (ऋक्प्राति० ६.३३), "**इति यमसंज्ञका वर्णा विंशतिसंख्याका भवन्तीति चतुर्थाध्याये व्याख्यातम्**" (यजुःप्राति० ८.२४)। ऋक्प्रातिशाख्येऽप्युक्तं यद्यमाः स्वप्रकृतिभूतपूर्वसदृशवर्णसदृशा भवन्तीति— "**यमाः प्रकृत्यैव सदृक्**" (ऋक्प्राति० ६.३२)। यमानां स्वप्रकृतिभूतपूर्वस्पर्शवर्णा विंशतिसंख्याका भवन्तीति कृत्वा यमा अपि विंशतिर्भवेयुरिति अवबुध्यते। परं यमाश्चत्वार एवेत्युररीकृतं सर्वैराचार्यैरित्यपि अवगतिर्विद्यते। अत एष विषय सन्देहोत्पादकत्वाद् विचारणीयोऽस्ति।

यमसंख्यासंशयस्य तत्स्वरूपानवगतिमूलकत्वाद् यमस्वरूपम् एव पूर्वं वेविच्यते। संस्कृतव्याकरणशास्त्रे वर्णानामुपदेशो द्विधा दरीदृश्यते। प्रथमस्तावद् अक्षरसमाम्नाये (प्रत्याहारसूत्रेषु) स्वरूपतो वर्णानामुपदेशः। अपरस्तु "**अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः**" (अष्टा० १.१.६९) इति ग्रहणकशास्त्रेण गृहीता वर्णाः। केचन वर्णास्तूभयथाप्यनुपदिष्टाः सन्तः कार्यं वहन्ति। त एवायोगवाहाः कथ्यन्ते। यथाहि भाष्यकारेणोक्तम्- "**इमेऽयोगवाहा न क्वचिदुपदिश्यन्ते श्रूयन्ते च। तेषां कार्यार्थ उपदेशः कर्त्तव्यः। के पुनरयोगवाहाः? विसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयानुस्वारनासिक्ययमाः। कथं पुनरयोगवाहाः? यदयुक्ता वहन्ति, अनुपदिष्टाश्च श्रूयन्ते**" (महाभाष्यम्-हयवरट्)। अपि च भट्टोजि-

१. यह लेख जनवरी २००९ की वेदवाणी (६१.३) में और मई-जून २००९ की 'विश्वसंस्कृतम्' (होशियारपुर) पत्रिका में प्रकाशित है।

दीक्षितैरप्युक्तम्—''**अविद्यमानो योगः प्रत्याहारेषु सम्बन्धो येषां तेऽयोगा अनुपदिष्टत्वादुपदिष्टैरगृहीतत्वाच्च प्रत्याहारसम्बन्धशून्या इत्यर्थः। वाहयन्ति निर्वाहयन्ति प्रयोगमिति वाहाः, अयोगाश्च ते वाहाश्चेति कर्मधारयः। अनुपदिष्टत्वे उपदिष्टैरगृहीतत्वे च सति श्रूयमाणा इत्यर्थः** (शब्दकौस्तुभे हयवरट्)। यमा अप्ययोगवाहा इत्युक्ते यमा उपदिष्टेभ्यः ककारादिवर्णेभ्यो भिन्ना इत्यवधेयोऽयमत्र।

यमस्वरूपविवेचनम्—यम-यमीति प्रसिद्ध-ऋक्सूक्तवशाद् यम-शब्दो द्व्यर्थवाचकः सञ्जातः। अत्रापि द्वाभ्यां वर्णाभ्यामुत्पद्यमानत्वमेव यमानां यमत्वम्। काभ्यां वर्णाभ्यां यमा उत्पद्यन्त इत्यत्र वैयाकरणा ब्रुवन्ति यत्—

१. **वर्गेष्वाद्यानां चतुर्णां पञ्चमे परे मध्ये यमो नाम पूर्वसदृशो वर्णः.....** (सिद्धान्तकौमुदी - १२)।
२. **तत्र यमा नाम वर्गेष्वादितश्चतुर्णां पञ्चमेषु परतः त एव नासिक्या भवन्ति** (पदमञ्जरी १.१.९)।
३. **वर्गेष्वादितश्चतुर्णां पञ्चमे परे तन्मध्ये पूर्ववर्णसमानाकारं वर्णान्तरं प्रातिशाख्येष्वागमत्वेन विहितं तद्यमसंज्ञकम्** (शब्दकौस्तुभम्- १.१.८)।

ते च यमाः- कुँ खुँ गुँ घुँ इति प्रसिद्धाः।

वाजसनेयप्रातिशाख्ये (४.१६३) यमा विच्छेदनाम्ना वर्णिताः। बहुत्राशरीराख्ययापि व्याख्याताः (याज्ञवल्क्यशिक्षा २०३, पाराशरशिक्षा ५८, अमोघानन्दिनीशिक्षा ५३, सामवेदीया गौतमीशिक्षा १, शिक्षाप्रकाशः ४)। अशरीरसंज्ञया एतेषामयोगवाहत्वं (कादिभ्यो भिन्नत्वं वर्णान्तरत्वं वा) सिद्धं भवति। तथा ह्येते अनुपदिष्टाः सन्त उपदिष्टान् वर्णानाश्रित्यात्मानं प्रकटीकुर्वन्ति। उक्तञ्च—

अनुस्वारो विसर्गश्च कलपाठः प्लुता यमाः।
जिह्वामूलमुपध्मा च षोडशैते पराश्रयाः॥
अशरीरास्तु ये वर्णा विज्ञेयास्तु पराश्रयाः।
अन्यं वर्णं समाश्रित्य दर्शयन्ति निजं वपुः॥

(चारायणीयशिक्षा अ० १)

तथा चाशरीरशब्देनैतेषां स्वशरीरं निजस्वरूपं किमपि नास्तीत्यपि ज्ञायते। एतेषामुच्चारणमेव भवति, न तु लेखनमपीत्यर्थः। उक्तञ्च भट्टोजिदीक्षितेन शब्दकौस्तुभे (१.१.८) ''**अशरीरमिति स्वरभक्त्यादिवद्[1] व्यञ्जकलिपिविशेषशून्यमित्यर्थः। लक्षणवशेनैव तदीयस्थलविशेषनिश्चयसम्भवाल्लिपिसम्प्रदायप्रवर्त्तकाचार्यैः स्वरभक्तेरिव यमस्यापि व्यञ्जकीभूता लिपिर्न कल्पितेत्यर्थः।**''

एवं यमानां लिपेरभावेऽपि तेषां सुबोधाय यथाकथञ्चित्ते प्रदर्श्यन्ते। तेषां प्रदर्शनप्रकारश्चैवमस्ति- अपञ्चमपञ्चमवर्णयोर्मध्ये उच्चार्यमाणे यमे परे विद्यमानस्य पञ्चमवर्णस्य नासिक्यत्वं प्राधान्येन लक्ष्यते। अत एव यमाः ''**नासिक्याः**'' इत्यपि संज्ञामलभन्त—''**स्पर्शादनुत्तमादुत्तमपरादानुपूर्व्यान्नासिक्याः**'' (तै०प्राति०२१.१२), ''**अनुस्वारयमा नासिक्याः**'' (पाणिनिशिक्षा- १.१६)। नासिक्याः सन्तोऽप्येतेषु पूर्वे विद्यमानस्यापञ्चमस्पर्शवर्णस्य स्पर्शत्वमपि किञ्चिद् भाति, स्पर्शध्वनिरपि श्रूयत इव प्रतीयत इति यावत्। निगदितञ्च शौनकेन ऋक्प्रातिशाख्ये- ''**श्रुतिर्वा यमेन मुख्यास्ति समानकाला**''[2] (ऋक्प्राति० ६.३३)। एतां स्पर्शध्वनिश्रुतिं द्योतयितुं तं स्पर्शवर्णं विलिख्य, तस्मिन् यमस्य नासिक्यत्वं दर्शयितुं सानुनासिक्यचिह्नं (ँ) प्रयुज्य उकारानुबन्धञ्च संयोज्य कुँ खुँ गुँ घुँ इत्येवं रूपेण लिख्यन्ते। एतमेव विषयं शब्दान्तरैः द्रढयत्याचार्यशौनकः-''**यमः प्रकृत्यैव सदृक्**'' (ऋक्प्राति० ६.३२)।

यमेषु ककारादीनां श्रुतिं श्रुत्वा, लेखने च ककारादीनां लिपिं दृष्ट्वा केचनाचार्याः तत्स्थान् ककारादीनेव वर्णान् यमत्वेन वर्णयन्ति। यथा- ''**अग्निँ मीळे**'' **इति द्वौ गकारौ नकारश्च संयोगः-द्वितीयो गकारः संयोगादिः स यमीभूतः.....**'' (उवटः, ऋक्प्राति० १.२५)। तत्परिणामतो यमा विंशतिसंख्याका भवन्ति, न च ते वर्णान्तरा भवितुमर्हन्तीति भ्रमो

---

१. यदद्य कर्हि कर्हि (ऋ० ८.७३.५) अत्र कर्हिशब्दस्य 'कर्ऋहि' इत्येवं रूपेणोच्चारणं भवति। इह ऋस्वरवर्ण उच्चार्यते, परं न लिख्यते। स च स्वरध्वनिरर्धमात्रिक एव। ध्वनिरयं स्वरभक्तिः, ह्रस्वार्धः, अतिह्रस्वस्वर इति च संज्ञाभिः संज्ञायते (द्रष्टव्यम्- ऋक्प्राति० ६.४८; १.३३)।

२. यमोच्चारणेन समानकाला मुखे भवा श्रुतिरस्ति, यया यमस्तद्रूपो लक्ष्यते (उवटस्तत्रैव)।

जायते। तद्वारणाय यथामति विचार्यते अत्र।

१.''वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन न गृह्यन्ते'' इति सर्वमान्यसिद्धान्तः। यथा ऋकारलृकारयोः रेफलकारयोः श्रुतिमङ्गीकृत्यापि न तौ वर्णान्तरत्वेन स्वीकुर्वन्त्याचार्याः। तथा च सन्ध्यक्षरेष्वपि अकार–इकार–उकाराणां श्रवणमात्रेण नैतान् वर्णान्तरत्वेनोरीकरोति कश्चनाचार्यः। तथैव यमेष्वपि ककारादीनामत्यन्तस्वल्पकालपरिमितश्रवणमात्रेण न ते वर्णान्तरत्वेनाङ्गीकर्तुं शक्यन्ते। शुद्धनासिक्यध्वनिविशेषा एव यमाः, न तु कादय इति यावत्।

२. जिह्वामूलीयः ≍क, ≍ख, इति रूपेण लिख्यते, उपध्मानीयश्च ≍प, ≍फ इत्येवं रूपेण लिख्यते, पुनरपि सर्वेषामयमेवाध्यवसायोऽस्ति यत् जिह्वामूलीयः कखाभ्यां भिन्नः, उपध्मानीयश्चापि पफाभ्यामन्य इति। यतोहि कखौ पफौ च वर्णाः केवलं जिह्वामूलीयोपध्मानीययोराश्रयत्वप्रदर्शनाय लिख्यन्त इति। तथैव कुँ खुँ इत्येवमादिष्वपि यमाः कादिभ्योऽन्याः शुद्धनासिक्याः, कादयश्च वर्णाः केवलं तदाश्रयत्वप्रदर्शनाय लिख्यन्त इति सर्वे जानीयुः।

३. लृवर्णे ल–व्यञ्जनं लिखन्ति, तद्ध्वनिञ्च सर्वे शृण्वन्ति, तथाप्येतस्मिन् स्वरे लव्यञ्जनममत्वा स्वरं तद्भिन्नमेव वदन्ति। यमेष्वपि कादिषु दृष्टेष्वपि यमं कादिभ्यो भिन्नत्वेनैव परिगणयन्ति शब्दविदः।

४. ऋग्वेदे द्वयोः स्वरयोर्मध्ये विद्यमानस्य ढकारस्य स्थाने 'ळह' इति ध्वनिमुच्चारयन्ति वेदविदः (द्र. ऋक्प्राति० १.५२)। अत्र हकारसदृशध्वनिप्रदर्शनार्थमेव हकारं लिखन्ति, न तु स हकारः। तथैव यमेष्वपि स्वल्पकालिकं ककारादिसदृशध्वनिं दर्शयितुमेव ककारादीन् लिखन्ति, न ते ककारादयः। यमास्तु तेभ्यो वर्णेभ्यः इतरे शुद्धनासिक्या एव।

५. माध्यन्दिनयजुर्वेदे तद्ब्राह्मणे च यकार –वकारयोः पदादौ पदमध्ये पदान्ते च त्रिधोच्चारणं क्रियते। तथोच्चार्यमाणौ तौ उभावपि वर्णौ क्रमशः गुरु–लघु–लघुतर–संज्ञां लभेते। पदादौ विद्यमानयोः यकारवकारयोर्गुरुत्वमवबोधयितुं यकार–वकारौ कृतद्वित्वाविव लिख्येते। यथा—**य्यज्ञेन य्यज्ञमयजन्तः०** (यजुः० ३१.१६); **इषे त्वोर्जे त्वा व्वायवस्थ०** (यजुः० १.१)। अत्र विशेषतो ध्यातव्योऽयं विषयो यद्– इह यकार– वकारौ न कृतद्विर्वचनौ, न हि केनापि सूत्रेणात्र द्वित्वं विहितमस्ति। केवलं

गुरुत्वप्रदर्शनायातिरिक्तयकारवकारौ लिख्येते। तथैव यमानां लेखनप्रकारेऽपि शुद्धनासिक्यत्वेन सह तदाश्रयभूतपूर्वस्पर्शवर्णसदृशध्वनिं द्योतयितुं कादयः पूर्वस्पर्शवर्णा लिख्यन्ते। न हि कादयो यमाः।

६. लघुमाध्यन्दिनीयशिक्षायां विसर्गोच्चारणविधिरभिहितोऽस्ति। स चैवं दृश्यते—

देवो वः सविता चात्र हकारसदृशो भवेत्॥
देवीस्तिस्रो विसर्गस्तु हिकारसदृशो भवेत्।
आखुस्ते पशुरित्यादौ हुकारसदृशो भवेत्॥
विसर्गश्चाग्नेरित्यादौ हेकारसदृशो भवेत्।
विसर्गो बाह्वोरित्यादौ होकारसदृशो भवेत्॥

(लघुमाध्यन्दिनीयशिक्षा १८–२०)

एवं विसर्गस्योच्चारणमुक्त्वा विसर्गो हकार एवेति भ्रमो नोत्पद्येत इति विचिन्त्यान्ते भाषितं यत्–

हकारो नैव मन्तव्य इति शास्त्रव्यवस्थितिः। (तत्रैव २२)

तथैव यमस्योच्चारणप्रकारोऽप्येवं ज्ञापित आसीद् यद्–पूर्वस्पर्शवर्णसदृशध्वनिना सह नासिक्यत्वमुच्चार्यते चेद् यम उच्चारितो भवतीति। अस्य कथनस्य सौविध्याय लिपिरपि 'कुँ, खुँ, गुँ, घुँ इत्येवं रूपेणाकल्प्यत। परं कालान्तरे कादयोऽपि यमा इति भ्रमोऽजायत। सानुनासिकनिरनुनासिकभेदस्तु केवलमक्षु रेफवर्जितान्तस्थेषु चैव भवति, नान्येषु वर्णेष्विति सर्वमान्यसिद्धान्तः। पुनरपि **सर्वथा निरनुनासिकानां कादीनां सानुनासिकत्वेन लेखनेनैव सर्वैः ज्ञातव्यमासीद् यमेषु कादयो नासिक्यभूतयमेभ्योऽन्ये केचन ध्वनिविशेषद्योतका एव, न कादयो यमा इति।** यमेषु कादयो ध्वनिविशेषद्योतका आश्रितवर्णद्योतका वेत्येवावगन्तव्यम्। न ते स्पर्शवर्णाः, तत्र सानुनासिकरूपकल्पनाया असम्भवात्।

उपरितनैर्बिन्दुभिर्ज्ञायते यत् न ककारादयो यमावयवाः, ते तु केवलं तत्तद्वर्णाश्रयत्वद्योतकाः, तथा च यमोच्चारणे स्वल्पकालपरिमितश्रूयमाणस्पर्शध्वनिसदृशध्वनिद्योतकाः। यदि द्वित्वजन्ययोरन्यतरा एव यमाः स्युः,

तर्हि ते स्वतः पूर्ववर्णसदृशा भवेयुरेव। पुनः कथम् आचार्यशौनकः **''यमाः प्रकृत्यैव सदृक्''** इति सूत्रं प्रणयेत्? सदृक्शब्दप्रयोगेणैव ज्ञायते यत् यमा न द्वित्वजन्याः। अतो यमा न विंशतिसंख्याका भवन्ति, ते तु चत्वार एव।

पलिक्क्ँनी (ऋ० ५.२.४) **रुक्क्ँम** (यजुः० १२.१) इत्येवमादिषु यः प्रथमो यमः 'क्ँ' इति ककाररूपेण दृश्यते, स न यमः। तत्त्वतस्त्वत्र प्रथमो यमः (शुद्धनासिक्यध्वनिविशेषेष्वन्यतमः) कवर्गीयं प्रथमं वर्णमाश्रित्योत्पन्नो भवति, उच्चारितो वा भवति। तदाश्रयत्वस्यैव द्योतकोऽयं कध्वनिः, नायं ककारः। यद्ययमेव प्रथमो यमश्चवर्गीयं प्रथमं वर्णमाश्रीयते चेत् 'च्ँ' इत्येवं रूपको भवति। यथा–**मुमुच्च्ँमहे** (ऋ० ९.२९.५)। तथैवान्यानपि प्रथमस्पर्शवर्णान् यदायमाश्रीयते, तदायं तत्तद्रूपको भवति। यथाहि– **आट्ट्ँणारः** (तै.सं. ५.६.५), **आत्तृँमा** (ऋ० ७.८७.२), **पाप्प्ँमानम्** (तै.सं ५.३.१७)। एक एव प्रथमो यमः पञ्च स्पर्शवर्णान् समाश्रित्य पञ्चरूपक इव प्रतीयते, भिन्नरूपकवद् भाति, परं न स भिन्नः। यथैक एवाकाशो घटाकाशो मठाकाश इत्यौपाधिकभेदेनानेक इति प्रतिभाति, परं न सोऽनेकः।[१] यथात्राकाश एकः सन्नप्यौपाधिकभेदेन (घटाकाशादि–भेदेन) भिन्नत्वेन व्यवह्रियते गौणरूपेण, तथैव यमेष्वपि बोद्धव्यम्। एक एव प्रथमयमः कचटतपानामाश्रयेणौपाधिकः (गौणः) भेदो दृश्यते। तमेवौपाधिकभेदं (गुणभूतभेदं) लक्ष्यीकृत्योवटादिनोक्तं यद् यमा विंशतिसंख्याका इति। तथा च तेषामेव गौणभूतानां यमानां संग्रहार्थं प्रथमे गौणे यमे (क्ँ इत्यत्र) उकारानुबन्धं कुर्वन्त्याचार्याः ''कुँ'' इति। तथैव द्वितीयादिषु यमेषु सर्वमवगन्तव्यम्। एवमवबुद्धौ **''एवं विंशतिर्यमाः बह्वृचानां भवन्ति स्वरूपैश्चत्वार एव''** (उवटः ऋक्प्राति० १.५०) इत्येवमादिषु स्थलेषु न कश्चन विसङ्गतेः प्रसङ्गः, न च संख्याविषयको विभ्रमः।

अन्ते चैकं विषयमुक्त्वा विरम्यतेऽयं लेखः। यमानां संवारविवार–श्वासनादघोषवदघोषाल्पप्राणमहाप्राणादयो बाह्ययत्नास्तु बहुत्र

१. प्रतिभानस्य नानात्वान्न चैकत्वं विहन्यते (शंकरः–सर्वदर्शनसिद्धान्तसंग्रहः ४.२.६)।

चर्चितास्सन्ति। परमेषामाभ्यन्तरयत्नाः (आस्ययत्नाः) कुत्रापि केनापि नोक्ताः। किं तावदत्र कारणम्? हेतुस्तावदत्रैक एव। स च यमाः शुद्धनासिक्याः। नासिका चास्याद् बहिरिति मन्यते प्रामाणिकैर्बहुभिराचार्यैः। यमोच्चारण आस्यप्रयत्न एव न भवति।[१] अत एव ते नोक्ताः कुत्रचिदपि। ककारादयोऽपि यदि यमाः स्युः चेत्तेषां स्पृष्टत्वादय आभ्यन्तरप्रयत्नाः (आस्यप्रयत्नाः) अपि वक्तव्या आसन्। तथा वचनाभावादेव ज्ञायते यत् ककारादयो न यमाः, ते तु केवलमाश्रितवर्णध्वनिद्योतका एव। शुद्धनासिक्यभूता यमाश्चत्वार एव, न विंशतिरिति यावद्। अलमतिविस्तरेण बुद्धिमद्विद्वद्वरशिरोमणिषु।

—०—

१. अथ [मुखनासिकावचनोऽनुनासिक इत्यत्र] मुखग्रहणं किमर्थम्? 'नासिकावचनोऽनुनासिकः' इतीयत्युच्यमाने यमानुस्वाराणामेव [अनुनासिकसंज्ञा] प्रसज्येत (महाभाष्यम् १.१.८)। सूत्रे मुखाभावे यमानामपि अनुनासिकसंज्ञायाः प्रसक्तिर्भवतीति यावत्। यतोहि यमोच्चारणे मुखयत्नः (आस्ययत्नः, आभ्यन्तरयत्नः) न भवति। अयं विषयो भाष्यशब्देषु स्पष्टतया ध्वन्यते।

परिशिष्ट-२

अप्रकाशित शिक्षा-ग्रन्थों का परिचय[१]

सम्प्रति लगभग छत्तीस शिक्षा-ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। इनमें से बत्तीस शिक्षायें सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से प्रकाशित 'शिक्षा-संग्रह' में संगृहीत हैं। इनके अतिरिक्त वाराणसी से ही एक 'व्यास-शिक्षा' और रामलाल कपूर ट्रस्ट, रेवली से सूत्रात्मक पाणिनि-आपिशलि-चान्द्र शिक्षायें प्रकाशित हैं। अत: इनका विषय प्राय: सभी को ज्ञात ही है। इसलिये इस लेख में केवल उन शिक्षाओं का संक्षिप्त परिचय दिया जायेगा, जो अभी तक प्रकाशित नहीं हो सकीं, विविध संग्रहालयों में केवल पाण्डुलिपियों के रूप में ही विद्यमान हैं, जिनका वर्णन प्रख्यात ध्वनि-विज्ञानी एवं भाषा-शास्त्री पद्मभूषण डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा (एम.ए, डी.लिट्) ने अपने शोध-प्रबन्ध ''प्राचीन भारतीय वैयाकरणों के ध्वन्यात्मक विचारों का विवेचनात्मक अध्ययन'' में किया है। इनका यह शोध-प्रबन्ध 'रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑफ लन्दन' से अंग्रेजी में प्रकाशित हुआ था। इसे 'हरियाणा हिन्दी ग्रन्थ अकादमी' ने हिन्दी में अनुवाद कराकर प्रकाशित किया है।

डॉ० वर्मा अपने शोधग्रन्थ में लिखते हैं—''उपलब्ध शिक्षाओं की संख्या बहुत बड़ी है। कम से कम पैंसठ शिक्षाओं का तो मुझे ही पता है। इनमें से पचास का मैंने स्वयं परीक्षण किया है।.....सोलह मद्रास के राजकीय प्राच्य पाण्डुलिपि पुस्तकालय में हैं तथा तीन पाण्डुलिपियाँ भण्डारकर प्राच्य अनुसन्धान संस्थान, पूना में हैं'' (भूमिका, पृष्ठ ३६)।

इस शोध-प्रबन्ध में स्थान-स्थान पर जो इन पाण्डुलिपियों की सामग्री प्रस्तुत की गई है, उसी के आधार पर यह लेख प्रस्तुत किया जा रहा है, जिससे कि इन अप्रकाशित शिक्षा-ग्रन्थों का भी अध्येताओं को परिचय मिल सके।

१. यह लेख 'वेदवाणी' जून- २००४ के अङ्क में प्रकाशित है।

१. शमान-शिक्षा—(मद्रास पाण्डुलिपि संख्या ९७७)—इसमें ऋग्वेदस्थ विसर्गलोपी शब्दों का संग्रह है।

२. विलंघ्यं-शिक्षा—(मं० पां० सं० ९६०)—इसमें यजुर्वेदीय एकारान्त, अइ-कारान्त, ओकारान्त, अउ-कारान्त शब्दों का संग्रह है।

३. पदकारिकारत्नमाला—(म० पां० सं० ९२१)—यह शंकराचार्य द्वारा विरचित माना जाता है। इसमें चालीस अध्याय हैं।

४. स्वर-व्यञ्जन-शिक्षा—(पूना पां० सं० २१)—यह ऋग्वेदीय शिक्षा है और यह ऋक्प्रातिशाख्य को उद्धृत करती है तथा उसके पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करती है। इसमें अष्टाध्यायी के ७.४.२८ तथा ६.१.१३८ सूत्र भी उद्धृत हैं। अत: यह पाणिनि के बाद की कृति है।

इसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है कि रेफ [ऋकार] कब स्वर होता है और कब व्यञ्जन। इसमें कुल छह वर्ग हैं।

५. चारायणीय-शिक्षा—(पूना पां० सं० २१, २५)—यह शिक्षा पाणिनीय शिक्षा के पश्चात्-कालिक है। यह कृष्ण यजुर्वेद की चरणशाखा सम्बन्धी है। इस लुप्त शाखा का एक उद्धरण इसमें मिलता है—''**अग्रे सम्राड् अजैकपाद आह (व)नीय अमावास्यां वा यजते**'' इसमें वाजसनेय प्रातिशाख्य के १.९९,१.१४१ दो सूत्र भी उद्धृत हैं। यह एक महाशिक्षा है। इसके प्रारम्भिक श्लोक निम्न प्रकार हैं—

ॐ प्राक् प्रपद्ये विभुं भक्त्या सर्वलोकपितामहम्।
शिक्षां साक्षात् प्रवक्ष्यामि तेनैवालपितामहम्॥
चारायणीं महाशिक्षां प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः।
निबोधत बुधैर्जुष्टां नित्यं वाङ्मलशान्तये॥

(गटिंगन पत्र-१)

इसका अन्तिम श्लोक इस प्रकार है—

य इदं पठते नित्यं यश्चाध्यापयेद् द्विजम्।
अस्यार्थं बुध्यते यो वै ब्रह्मलोकं स गच्छति॥

(गटिंगन पत्र-११)

इसमें दस उच्चारण-स्थानों का वर्णन मिलता है[१], जबकि पाणिनीय-शिक्षा में आठ स्थानों का परिगणन है[२]। इसके तृतीय अध्याय में सन्धिविषय, पञ्चम में इन्द्रवज्रा, प्रहर्ष आदि लौकिक (संस्कृत) छन्द एवं अष्टम में अभिनिधान विषय वर्णित हैं।

पत्र- ४ पर यह शिक्षा अयोगवाहघटक यम के विषय में कहती है कि **''न वायुं हमसंयोगे नासिकाभ्यां समुत्सृजेत्''** ह् एवं म् के संयोग में वायु को नासिका से उत्सर्जन नहीं करना चाहिये। अर्थात् ह्-म् की स्थिति में यम की उत्पत्ति नहीं होती है।

स्थितिविशेष में अस्पष्टता से उच्चरित होने वाले वर्ण भी इस शिक्षा में वर्णित हैं, जिन्हें अभिनिधान, आस्थापित, भक्ष्य वा भुक्त कहते हैं। सस्वर वेदपाठ के समय हस्त-संचालन के साथ-साथ अक्षि-स्पन्दन का जिक्र भी इसमें मिलता है। तद्यथा—

समं स्वरं पठेन्नित्यं मार्गं हस्ते प्रदर्शयेत्।
यद् वाणी गच्छति स्थानं तद्धस्तेन प्रदर्शयेत्॥
दक्षिणाक्षिनिपातेन दृष्टिं हन्यात् कनीयसीम्।
नासागण्डभ्रुवोः सन्धिमुदात्तविषये विदुः॥ (पत्र-६)

इसकी विशेषता यह भी है कि- शब्द के अन्त में विद्यमान व्यञ्जन भी द्वित्व को प्राप्त करते हैं[३] यथा- सम्यक्क् स्रवन्ति, तत्प्राप्नोत् इत्यादि।

६. शम्भु-शिक्षा (म० पां० सं० ९८८)- यह तैत्तिरीय संहिता सम्बन्धी है। इसमें मात्रा एवं स्वराघात से सम्बन्धित सिद्धान्तों को पर्याप्त विकसित रूप में स्थापित किया गया है। इसका ३६वाँ श्लोक तै०प्राति० १.४० पर वैदिकाभरण में और ४५वाँ एवं ४६वाँ श्लोक

१. दश स्थानानि वर्णानां कीर्त्तयन्ति मनीषिणः। यतः प्रवृत्तिर्वर्णानां तानि मे गदतः शृणु॥ उरः कण्ठः शिरस्तालु दन्ता ओष्ठौ तु नासिका। जिह्वामूलं तु सृक्कश्च दन्तमूलस्तथैव च॥ पत्र-१।

२. अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा। जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च॥

३. व्यञ्जनान्तं पदं पूर्वं तद् वर्णं चापरं भवेत्। द्विर्भावं तं विजानीयात् सन्धिकाले तु नित्यशः॥

तै०प्राति० १.१ पर त्रिभाष्यरत्न में उद्धृत हैं।

७. कौहलीय-शिक्षा (म० पां० सं० ८९३)—इसका कर्त्ता अज्ञात है[१]। इसमें ७९ श्लोक हैं। प्रारम्भिक ४१ श्लोक स्वराघात विषयक हैं। यह कृष्णयजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा से सम्बन्धित है। इस शिक्षा का ५१वाँ श्लोक तै०प्राति० ४.१४ पर वैदिकाभरण में उद्धृत है। जिसमें कहा गया है कि जो व्यक्ति प्रातिशाख्यादि शास्त्रों का ज्ञाता तथा सभी शिक्षाओं में पारंगत विद्वान् ही जटापाठ की व्याख्या का उपदेश कर सकता है[२]। इसमें स्वराघात के निर्देशन के लिये हस्त-सञ्चालन में केवल दाहिने हाथ का ही प्रयोग करने का विधान मिलता है[३]।

८. वासिष्ठ-शिक्षा—डॉ० वर्मा जी को यह शिक्षा खण्डित रूप में ही मिली थी। जिसमें द्वित्व सम्बन्धी १३ श्लोक हैं। इसका एक उद्धरण तै०प्रा० १.१ पर वैदिकाभरण में मिलता है। **''तदुच्यते वासिष्ठशिक्षायां लृवर्णदीर्घं परिहाप्य स्वराः षड्विंशतिः प्रोक्ताः।''** यह भी तैत्तिरीय है।

९. वाल्मीकि-शिक्षा—यह शिक्षा तैत्तिरीय शाखा से सम्बन्धित है। इसकी पाण्डुलिपि भी उपलब्ध नहीं है। वाल्मीकि का मत तै०प्राति० के सूत्रों में दो स्थानों पर मिलता है।

(क) **कवर्गपरश्चाग्निवेश्यवाल्मीक्योः** (तै०प्राति० ८.४) अर्थात् अग्निवेश्य तथा वाल्मीकि के मत में कवर्गपरक एवं पवर्गपरक विसर्ग को जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय नहीं होता।

(ख) **उदात्तो वाल्मीकेः** (तै० प्राति० १८.६) अर्थात् वाल्मीकि के मत में प्रणव को उदात्त होता है।

१०. हारित-शिक्षा—इसकी भी पाण्डुलिपि अप्राप्त है। यह भी तै० शाखा सम्बन्धित है। इसके दो उद्धरण मात्र मिलते हैं।

१. अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि कौहलीयमतानुगाम्। स्वरादिनिर्णयस्तत्र क्रियते तन्निबोधत॥१॥

२. प्रातिशाख्यादिशास्त्रज्ञः सर्वशिक्षाविशारदः।
बुद्धिशक्तिसमेतो यः स जटां वक्तुमर्हति॥५१॥

३. स्वरान् हस्तेन विन्यस्येद् विपश्चिद् दक्षिणेन तु। श्रेयो विपुलमन्विच्छन् न सव्येन कदाचन॥३५॥

(क) तत्र हरित शिक्षा—

मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्॥

(पारिशिक्षा-२७ की टीका)

(ख) **उष्माऽघोषो हारितस्य** (तै०प्राति० १८.४) अर्थात् हारित के मत में अघोष ऊष्मों का द्वित्व नहीं होता।

दुदुह्हे आदि (ह्+र्) में हारित के अनुसार द्वित्व नहीं होता-**रेफपरश्च हकारः** (तै०प्राति० १४.१९)। जबकि चारायणीयशिक्षा यहाँ भी द्वित्व मानती है[१]।

११. सर्वसम्मत-शिक्षा (म०पां०सं० ९९८)—इसका कर्त्ता केशवार्य है।[२] इसमें चार अध्याय तथा १७० श्लोक हैं। इस पर मञ्चिभट्ट[३] का विस्तृत भाष्य भी है। इस शिक्षा में ध्वनिशास्त्र विषयक सिद्धान्त प्रौढ़ता एवं सूक्ष्मता से प्रतिपादित हैं। इसके ३३ श्लोकों में स्वराघात के सिद्धान्त भी सम्यक्तया निरूपित हैं। इसके उद्धरण तै०प्रा० के त्रिभाष्यरत्न और वैदिकाभरण भाष्यों में अनेकत्र मिलते हैं। यह भी तै०सं० से सम्बन्ध रखती है।

वासांसि आदि शब्दस्थ अनुस्वार को यह शिक्षा एक स्वतन्त्र वर्ण मानती है—"**काठकाख्ये चरणे वासःशब्दाद् उत्तरोऽनुस्वारः पूर्वस्यांगं न भवति**" (२.३८)।

१२. आरण्य-शिक्षा (म०पां०सं० ८६६, ८६७)—यह नौ शिक्षाओं की सारात्मक[४] नवीन कृति है। इसकी भी तैत्तिरीय शिक्षाओं में गणना की जाती है। इनमें आद्युदात्त शब्द, अन्तिम दो अक्षर उदात्तवान् शब्द इत्यादि शब्दों का परिगणन है। यह भी अनुस्वार को एक स्वतन्त्र अक्षर मानती है—"**वासश्शब्दाद् अनुस्वारः काठके नीच इष्यते**" (५२)।

१. हरो यत्र नियुज्येते हकारः क्रमते तदा।
अह्हतं ह्ह्रियते ह्ह्रादिनी ह्ह्रदं च निदर्शनम्॥ पत्र ३॥
२. सूर्यदेव बुधेन्द्रस्य नन्दनेन महात्मना। प्रणीतं केशवार्येण लक्षणं सर्वसम्मतम्॥ ४.१२१॥
३. इति श्री मंचिभट्ट विरचितं सर्वसम्मत-शिक्षा-विवरणं समाप्तम्।
४. क्षितिसुरगणहेतोरेतदारण्यशिक्षामृतमिव नवशिक्षावारिधेरुद्धरामि (प्रस्तावना)।

यहाँ व्याख्याकार लिखते हैं—"**वासःशब्दात् प्रतीयमानोऽनुस्वारः काठके पृथगेव, न पूर्वांशमित्यर्थः।**"

स्वरित ह्रस्व स्वर के बाद विद्यमान स्वरभक्ति की भी भिन्न अर्थात् एक स्वतन्त्र सत्ता मानती है—"**ह्रस्वस्वरात् स्वराभिन्न इत्यादि लक्षणप्राप्तस्वरभक्तीनां पूर्वांगत्वं निषिध्य कुत्रचित् पृथक्त्वं विधत्ते।**"

१३. सिद्धान्त-शिक्षा (म०पां०सं० १०१२)—इस शिक्षा का कर्त्ता एवं व्याख्याता श्रीनिवासाध्वरीन्द्र है।[१] इसमें ७४ श्लोक हैं। यह भी तैत्तिरीय शिक्षा है। इसका रचनाकाल लगभग १३वीं ई० शताब्दी है।

इसमें ककारादि क्रम से विभिन्न ध्वनियों वाले शब्दों का अनुक्रम संकलित है। तद्यथा—**ककारादिः कमिष्यन्ते स्यादमुं लोकमुत्तरः। कट-धातोः कडित्याहुरश्विभ्यां परितः कृतम्॥ ४५॥**

वेद में विकल्प से 'त्वम्' का उच्चारण 'त्वङ्' के रूप में करने का विधान है।[२] यही इसकी विशेषता है।

इसमें भट्टभास्कर मिश्र (तै०सं० भाष्यकार) और गंगेश (प्रसिद्ध नव्यन्यायाचार्य) नाम मिलते हैं तथा तै०प्रा० के भाष्यद्वय एवं व्यासशिक्षा इसमें उद्धृत हैं।

१४. कालनिर्णय-शिक्षा (म०पां०सं० ८९१, ८९२)—यह प्रातिशाख्यों के बाद की कृति है।[३] बर्नेल का मत है कि इसका कर्त्ता सायण है।[४] इस पर मुक्तीश्वराचार्य ने "काल-निर्णय-दीपिका" नाम की टीका लिखी है।

व्यासशिक्षा में इस शिक्षा का एक श्लोक मिलता है। तै० प्रा० के १.३७; १८.१ आदि पर दोनों भाष्यों में इसके श्लोक मिलते हैं।

१. श्रीनिवासाध्वरीन्द्रेण चतुष्कुल-सुधांशुना। श्लोकाः सिद्धान्तशिक्षायां चतुःसप्ततिरीरिताः। श्रीनिवासाध्वरीन्द्रविरचिता सिद्धान्त-शिक्षा-व्याख्या समाप्ता।
२. त्वन् माह्यर्वाङ् ततो विश्वङ् अवाङ् नतौ सदा। शिङ्ते वृङ्ते स्म मृङ्ताम् च युङ्ध्वं वृङ्धङ् धिङ् आस्तथा॥..५३॥ व्याख्यात्वम् इत्यस्य वा ङ्कारोऽन्ता-देशश्छान्दस इत्यन्त्योऽर्थः।
३. प्रातिशाख्यादिशास्त्राणि मया वीक्ष्य यथामति। वेदतत्त्वावबोधार्थमिह कालो निरूप्यते॥
४. ऐन्द्र स्कूल ऑफ ग्रामेरियन्स-पृ० ४९।

१५. पारिशिक्षा (म०पां०सं० ९२४)—यह पाराशरी शिक्षा से भिन्न बृहत्काय शिक्षा है। इसका कर्त्ता 'पारि' मुनि है। रचनाकाल लगभग १५वीं शताब्दी ई० है। इस पर 'यजुष-भूषण'[१] नाम की विस्तृत व्याख्या भी है।[२] यह भारद्धाज, व्यास आदि ९ शिक्षाओं का अनुसरण करती है।[३]

इसके ५,१०,११वें अध्यायों में क्रमशः द्वित्त्व, मात्रा, स्वराघात विषय मुख्यतः प्रतिपादित हैं। इसके द्वित्त्व प्रकरण में एक विशेष विधि मिलती है, जो कि अन्यत्र दिखाई नहीं पड़ती है। वह यह है कि 'प्रत्यङ्ङात्मा' आदि में दो-दो पञ्चम वर्ण लिखे जाते हैं, उनका एक वर्ण के समान ही उच्चारण करना चाहिये—''**ह्रस्वात् परो नाद इह द्विरूपो वर्णक्रमे तं सकृदुच्चरेद् ञ्रः, ह्रस्वात् परो नादोऽवसाने पञ्चमो वर्णो द्विरूपवर्गो भवति, तथापि वर्णक्रमे वर्णक्रमोक्तिकाले तं नादं सकृदेकवारमुच्चरेद् ब्रूयाद्**'' (पृ० १७०)। इस प्रकार का वर्णन 'व्यासशिक्षा' (२०.१०) पर भी मिलता है। यजुषभूषण में एक स्थान पर अक्षर की निरुक्ति दी गई है कि ''**न क्षरन्तीत्यक्षराणि, क्षरणमन्यांगतया चलनम्**'' अर्थात् जो दूसरे के अंग (अधीन) होकर नहीं चलता वह अक्षर कहलाता है। इस शिक्षा का ९वाँ श्लोक तै०प्रा० १.२ पर, १२वाँ श्लोक तै०प्रा० २१.१ पर व्याख्याद्वय में उद्धृत हैं।

निम्न चार शिक्षाओं की पाण्डुलिपि भी सम्प्रति अप्राप्त है—

१. तैत्तिरीय शाखा से सम्बन्धित पाणिनि-शिक्षा।
२. बोधायन-शिक्षा।
३. वाल्मीकि-शिक्षा।
४. हारित-शिक्षा।

—०—

१. सतां मुदं सम्प्रति पारिशिक्षाव्याख्यानभूता हृदयङ्गमेयम्।
विलक्षणा यजुषभूषणाख्याकृतिर्मदीया वितनोतु कामम्॥ ४॥
२. यह व्याख्या तै०ब्रा० को उद्धृत करती है।
३. साम्प्रतिकजनान्दुरवबोधभारद्वाज व्यास-पारि-शम्भु-कौहल-हारित-बोधायन-वासिष्ठ-वाल्मीकि-प्रभृतिमुनिगणविनिर्मितशिक्षादिग्रन्थानुसारेण.....प्रतिजानीते।

लेखक का परिचय

स्वामी चिदानन्द सरस्वती

(संस्थापक एवं अध्यक्ष : निगम-नीडम्)

जन्मस्थान— भार्गवपुरम् (हुस्नाबाद), करिनगर, तेलंगाणा

जन्मतिथि— १६-०७-१९७०

आचार्य— डॉ० विजयपाल विद्यावारिधि जी

शास्त्रीयाध्ययन—आचार्य स्वदेश जी (मथुरा) से व्याकरण का शुभारम्भ। आचार्य वेदपाल, सुनीथ जी (तिलोरा, अजमेर) से काशिका पर्यन्त अध्ययन। आचार्य श्री विजयपाल विद्यावारिधि जी (पाणिनि महा- विद्यालय, रेवली, सोनीपत) से शिक्षा, व्याकरण आदि सभी वेदाङ्ग एवं वेदोपाङ्ग (दर्शन) के साथ सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय का अध्ययन। आचार्य वासुदेव रामचन्द्र पराञ्जपे जी (मैसूर) से शाबर भाष्यसहित पूर्वमीमांसा दर्शन, पण्डितरत्न म० म० के० एस्, वरदाचार्य जी (मैसूर) से नव्यन्याय (तर्कसंग्रह, न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली) का अध्ययन किया ।

अध्यापन—तेलंगाणा में निगम-नीडम् (साङ्गोपाङ्गवेदमहाविद्यालय) की स्थापना कर सन् २००४ से सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय का अध्यापन कार्य कर रहे हैं ।

लेखनकार्य— शिक्षा-शास्त्रम्, पाणिनीय शिक्षा, निरुक्तनिर्वचनानि यास्कीय निर्वचनानि (मूल), नैरुक्त मन्त्रसंहिता (मूल), शास्त्रतत्त्वार्थमीमांसा (प्रथमभाग), हितोपदेशः, गोदानविधिः, वैदिक पर्वपद्धति-नववर्षेष्टि, नया वर्ष कब? एवं अनेकों शोधलेख। इसी प्रकार तेलुगुभाषा में भी अभी तक सात पुस्तकें प्रकाशित हैं और अन्य प्रकाशनाधीन हैं।

पाणिनि महाविद्यालय
सा विद्या या विमुक्तये

रामलाल कपूर ट्रस्ट

ग्राम—रेवली, डाक०— ई०सी० मुरथल,
सोनीपत— 131039 (हरयाणा), भारत
Website : www.rlktrust.in.
दूरभाष : 7082111456, E-mail : office@rlktrust.in

ISBN 978-81-986007-3-8
9 788198 600738
₹ 50.00